No. 697 हनुमानजी (राम लक्ष्मण सहित) S.S.B.

भागवत दर्शन

खण्ड ७३

गीतावार्त्ता (५)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:o:—

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

✱

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:※:—

प्रथम संस्करण] माघ पूर्णिमा [मू०-१-६५-पं०
१००० प्रति] २०२६

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगज, प्रयाग

महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण

(पंचम संस्करण)

अब तक आप दानवीर कर्ण को कौरवों के पक्ष का एक साधारण सेनापति ही समझते होंगे। इस पुस्तक को पढ़कर आप समझ सकेंगे, वे महाभारत के प्राण थे, भारत के सर्वश्रेष्ठ शूरवीर थे, उनकी महत्ता, शूरवीरता, ओजस्विता, निर्भीकता, निष्कपटता और श्रीकृष्ण के प्रति महती श्रद्धा का वर्णन इसमें बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। ३५६ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य केवल ३.४५ मात्र है, शीघ्र मँगाइये, नूतन संस्करण छप गया है। डाकव्यय अलग।

मतवाली मीरा

(पंचम संस्करण)

भक्तिमती मीराबाई का नाम किसने न सुना होगा ? उनके पद-पद में हृदय की वेदना है अन्तःकरण की कसक है। ब्रह्मचारी-जी ने मीरा के भावों को बड़ी ही रोचक भाषा में स्पष्ट किया है। मीरा के पदों की उसके दिव्य भावों की नवीन ढङ्ग से अलोचना की है, इसमें भक्ति शास्त्र की विशद व्याख्या है, प्रेम के निगूढ़ तत्व का मानवी भाषा में वर्णन किया है। मीराबाई

के इस हृदय दर्पण को आप देखें और बहिन, बेटियों, माता तथा पत्नी सभी को दिखावें। आप मतवाली मीरा को पढ़ते-पढ़ते प्रेम में गद्गद हो उठेंगे। मीरा के ऊपर इतनी गंभीर आलोचनात्मक शास्त्रीय ढङ्ग की पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २.५० रुपये मात्र है। मीराबाई का जहर का प्याला लिये रंगीन चित्र बड़ा ही कला पूर्ण है। डाकव्यय अलग।

नई प्रकाशित पुस्तकें

श्री हनुमत्-शतक

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

हनुमान् चालीसा की भाँति नित्य पाठ करने के लिये यह "हनुमत-शतक" है, इसमें हनुमान जी के जीवन सम्बन्धी १०८ छप्पय हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक कवि डाक्टर रामकुमार जी वर्मा ने तीन पृष्ठ में इसकी भूमिका लिखी है। हनुमान् जी के भक्तों के लिये नित्य पाठ की यह बहुत ही उपयोगी पुस्तिका है। अब तक इसके दो संस्करण छप चुके हैं। पुस्तक के आदि में श्री हनुमान् जी का बहुत ही भव्य आकर्षक बहुरंगा चित्र है। मध्य में २१ छोटे चित्र (हाफटोन ब्लाक) हैं। मुख पृष्ठ पर हनुमान् जी का सुन्दर आकर्षक चित्र है। सुन्दर छपाई वाली इस पुस्तक की न्योछावर केवल ५० पैसे हैं।

श्री महावीर हनुमान्

(लेखक श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

श्री ब्रह्मचारी जी महाराज ने श्री वृन्दावन धाम में रहकर श्री हनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन चरित्र भागवती कथा की भांति लिखा है, ऊपर एक श्लोक फिर एक छप्पय, तदनन्तर उस अध्याय के विषय की भूमिका फिर विषय विवेचन एक आध दृष्टान्त कथा कहानी अन्त में एक छप्पय लिखकर अध्याय समाप्ति। ऐसे इसमें २२ अध्याय हैं। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, हनुमान् जी के भक्तों तथा कथा वाचकों के बहुत ही काम की बन गयी वस्तु है। पृष्ठ संख्या २०० मूल्य २ रु० ५० पैसे आज ही पत्र लिखकर पुस्तक मँगा लें थोड़ी ही प्रतियाँ शेष हैं।

भक्त-चरितावली

(दो भागों में)

यदि आप चाहते है कि हम भी प्रभु के भक्तों को गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मगा कर पढ़ें। पूज्य श्री महाराज जी आज से ४०-५० वर्ष पूर्व झूसी (प्रतिष्ठानपुर) के हसतीर्थ में सन्ध्यावट नामक एक सघन वटवृक्ष के नीचे छोटी-सी कुटिया में रहकर अनुष्ठानादि करते रहते थे। जपानुष्ठान से जो समय मिलता उसी में वे भक्तों का चरित्र

लिखते थे। उसी समय के लिखे हुए लेखों को पुस्तक रूप में तैयार किया गया है। प्रथम भाग पृष्ठ संख्या ४४४ मूल्य ४ रु० द्वितीय भाग पृष्ठ संख्या ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

[छप्पय छन्दों में]

सत्यनारायण भगवान् की महिमा अपार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही संसार में सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते हैं। कलिकाल में सत्यनारायण व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के बार-बार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय

श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद।

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही, अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित सा होता जा रहा है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्री महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान् एवं साधारण जन इसमे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की पुस्तक प्रेस में पहुँच गई है शीघ्र ही आपको प्राप्त होगी।

छप्पय विष्णुसहस्रनाम तथा दोहा

(भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र दोहे)

जब श्रीमद् छप्पय भगवद्गीता (सार्थ) छपकर तैयार हुई और श्रद्धालु भक्तों, एवं विद्वद्जनों के हाथों में पहुँची, लोगों ने

पढ़ी, तो उसकी सरसता, माधुर्य एवं भावपूर्ण शब्दों के प्रयोग की सफलता देखकर अनेकों स्थानों से पत्र आये। पत्र में प्रारंभ में तो छप्पयगीता के लिये लिखा और अन्त में श्रीविष्णुसहस्र नाम के लिये कि श्री महाराज जी इसी प्रकार 'श्रीविष्णुसहस्र नाम' को भी लिख दीजिये भक्तों के आग्रह पर श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्रीविष्णुसहस्रनाम के भी छप्पय लिख दिये तथा विशेषता इसमें यह रही कि भगवान् के प्रत्येक नाम के एक-एक दोहे भी बना दिये। इस प्रकार छप्पय तथा दोहे दोनों बन गये। प्रतिदिन जितना भी श्री महाराज जी लिखते उसे कथा में सुनाते उसका वर्णन इस परिचय सूचनापत्र में करना असम्भव है। शीघ्र ही छपकर तैयार हो रही है पत्र लिखकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें।

व्यवस्थापक

विषय-सूची

हमारे न्यास (ट्रस्ट) के नये अध्यक्ष

पाठक जानते ही होंगे हमारे संकीर्तन भवन का 'संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट)' नाम से एक ट्रस्ट है। इसी न्यास की ओर से भागवती कथा का तथा पू० ब्रह्मचारी जी के अन्यान्य ग्रंथों का प्रकाशन होता है। एक 'संकीर्तन भवन, संस्कृत ब्रह्मचर्याश्रम' है, जिसमें निःशुल्क विद्यार्थी पढते हैं उनके भोजन आदि का समस्त भार आश्रम पर है। एक भागवत प्रेस है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक अखण्ड कीर्तन होता है, नित्य नियम से कथा तथा अन्यान्य धार्मिक उत्सवादि होते रहते हैं। आरम्भ से ही इस ट्रस्ट के अध्यक्ष १००८ श्री स्वामी ब्रह्मचैतन्य पुरी जी महाराज थे तथा मंत्री प्रयाग के महान् कर्मठ, सनातन धर्म के नेता वयोवृद्ध पं० मूलचन्द्र जी मालवीय थे। ५ और भी न्यासीगण हैं। गत वर्ष पूज्य श्री स्वामी जी का देहान्त हो गया। उनके स्थान पर झरिया, धनबाद के सुप्रसिद्ध, परम भगवत्भक्त हरिभक्तिपरायण पंडित यशवन्तराय हरिशंकरजी वोरा हमारे न्यास के नये अध्यक्ष हुए हैं। वोराजी कितन धार्मिक, सात्विक, साधुसेवी तथा दातृत्वगुण सम्पन्न हैं, इसे कहना छोटे मुख बड़ी बात ही कही जायगी। भागवत्कार ने कहा है—

> जन्म कर्म वयो रूप विद्यैश्वर्य धनादिभिः।
> यदि यस्य न भवेत् स्तम्भः तत्रायं मदनुग्रहः।

उच्च कुल में जन्म होना, सद्कर्मों में लगे रहना, सुन्दर

रूपवान होना, विद्वान् तथा ऐश्वर्यवान और धनवान् होना ये महान् गुण हैं। इन इतने भारी गुणों को प्राप्त करके कुछ न कुछ अभिमान हो ही जाता है; यदि इन गुणों को पाकर भी जिसे अभिमान न हो, तो समझना चाहिये उस पर भगवान् की बड़ी भारी कृपा है, महान् अनुग्रह है।

हमारे बोराजी भगवान् के परम कृपापात्रों में से हैं। ये सब की सब वस्तुएँ उनमें पूर्ण रूप से रहने पर भी वे अभिमानशून्य हैं। बिल्कुल छोटे बच्चों का सा स्वभाव है। इससे अधिक हम उनकी प्रशंसा नहीं करेंगे क्योंकि वे अपने निजी जन हैं और अपनों की प्रशंसा करना अपने मुँह मियामिट्ठू बनने के समान है। हमारे न्यास का यह अहोभाग्य है, कि हमें ऐसे सुयोग्य अध्यक्ष प्राप्त हुए हैं। आपके ही सहयोग से संस्कृत विद्यालय सुचारू रूप से चल रहा है। और यह भागवती कथा भी नियमित रूप से निकलने लगी है। अब कम से कम एक वर्ष के निकलने का प्रबंध तो हो गया है। हमें कागज की सबसे बड़ी कठिनाई थी सो कलकत्ते के सुप्रसिद्ध उद्योगपति सेठ गोबिन्दलालजी बाँगड़ की कृपा से उनकी कागजमिल रानीगंज से तथा राजमहेन्द्री से हमें वर्ष भर तक कागज मिलने का प्रबंध हो गया है, इसके लिये हम सेठजी को किन शब्दों में धन्यवाद दें। वे अपने ही हैं।

इधर १०-१२ वर्ष से पूज्य महाराज जी गोरक्षा के कार्य से झूसी से बाहर ही रहे, उनकी अनुपस्थिति में आश्रम का कार्य अस्त व्यस्त हो गया। भागवती कथा का निकलना बंद हो गया, प्रेस पर तथा आश्रम पर बहुत सा ऋण भी हो गया। पिछले खण्ड भी बहुत से चुक गये। ३०-३५ वर्ष पहिले जो भागवती कथा के स्थायी ग्राहक बने थे, वे भी सबके सब अस्त-

ध्वस्त हो गये। धार्मिक ग्रन्थों को प्रायः वृद्ध नर नारी ही अधिक पढ़ते हैं। ३०-३५ वर्ष में उनमें से अधिकांश परलोकवासी हो गये। सरकारी नौकर न जाने कहाँ के कहाँ चले गये। अतः अब स्थायी ग्राहक फिर बनाने पड़े हैं। ५-६ महीने में अभी लगभग सवा सौ ग्राहक बने हैं। यदि सभी ग्राहक उद्योग करके १०-१०, ५-५ ग्राहक बना दें तो भागवती कथा अपने पैरों पर खड़ी हो जाय। कम से कम दो हजार स्थायी ग्राहक हो जायँ तो अगले खंड भी नियमित निकल सकते हैं और पिछले खंड जो चुक गये हैं वे भी छप सकते हैं, आशा है २०) वार्षिक देकर इसके अधिक से अधिक स्थायी ग्राहक बन जायँगे तथा सभी ग्राहक स्थायी ग्राहक बनाने की यथाशक्ति चेष्टा करेंगे। हम पिछले जो अंक चुक गये है, उन्हें फिर से छपाने का भी प्रबंध कर रहे हैं अब तक चुके हुए खंडों में दूसरा, अड़तालीसवाँ, उनचासवाँ, सत्ताइसवाँ तथा तीसवाँ ये खंड फिर से छप गये हैं, आगे जो छपते जायँगे उनकी सूचना हम नये खंडों में प्रकाशित करते रहेंगे।

१. संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास (ट्रस्ट) के मंत्री पंडित मूलचन्द्र जी मालवीय थे। उनका भी थोड़े दिन पूर्व परलोकवास हो गया। उनके स्थान पर मंत्री मुझे बना दिया गया है। कहाँ इतने कर्मठ, वयोवृद्ध, अनुभवी, विद्वान तथा परम लोकप्रिय नेता पंडित मालवीयजी और कहाँ अपक्वावस्था का, विद्या बुद्धि से रहित अनुभव शून्य मैं बालक। मैं सर्वथा इस पद के अयोग्य हूँ। किन्तु पूज्य महाराज जी की आज्ञा शिरोधार्य करके मैंने यह गुरुतर भार अपने कन्धों पर ले लिया है। मैं इसमें तभी कुछ सफल हो सकता हूँ, जब सभी पाठक पाठिकायें पूर्ण रूप से मेरा सहयोग करें। आशा है भागवती कथा के सुयोग्य धार्मिक पाठक मेरी सब प्रकार से

सहायता करेंगे। जिससे यह परम दिव्य साहित्य सभी को सुलभता से प्राप्त हो सके।

पुनश्च यह बात सूचित करते हुए हमें अत्यन्त दुःख हो रहा है कि इस खण्ड के छपते समय हमारे न्यास के सबसे पुराने न्यासी (ट्रस्टी) श्री रामनारायण बेनीप्रसाद बुकसेलर, कटरा फर्म के स्वामी बाबू बेनीप्रसाद जी अग्रवाल का भी अभी देहान्त हो गया। आप बड़े अनुभवी व्यवसायी और वयोवृद्ध थे, न्यास के आजीवन सदस्य रहे। भगवान् उनकी परलोक गत आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

संकीर्तन भवन धार्मिक न्यास
झूसी (प्रयाग)
माघ शु० १३। २०२६

विनीत
रामनुज पाण्डेय
मन्त्री

अपनी निजी चर्चा

[४]

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र—
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलम्,
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥*

(श्री० भाग० ७ स्क० ६ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

पूर्व जन्म कृत कर्म पाश में बँध्यो फिरतु हूँ।
जो नहिँ भावैं तनिक तिनहिँ के संग रहतु हूँ॥
भव चक्की में पिसूँ बात कोई नहिँ बूझै।
चरन कमल तव छाँड़ि, अन्य अवलम्ब न सूझै॥
शरणागत वत्सल विभो! अब कब तक तरसाइँगे।
परम शरन निज पदु पदुम-में कब नाथ! बुलाइँगे॥

---

* हे कृपण वत्सल! मैं इस संसार चक्र में पिसने से ही अधिक भयभीत हूँ। मैं इन संसारी भयंकर जन्तुओं के बीच में अपने कर्म पाशों के कारण डाल दिया गया हूँ। हे मेरे स्वामिन्! आप प्रसन्न होकर अपने चरणों में जो समस्त जीवों के एकमात्र शरण और मोक्ष स्वरूप हैं उनमें कब मुझे बुलावेंगे?

एकबार धर्मराज युधिष्ठिर को कर्ण ने बहुत अधिक व्यथित किया। धर्मराज घबड़ा गये अचेत हो गये। तभी अर्जुन को लिये हुए श्री कृष्ण जी अपना रथ लेकर आ गये। धर्मराज को भगवान् ने डेरे पर भेज दिया और अर्जुन कर्ण से युद्ध करने लगे।

भगवान् ने अर्जुन से कहा—"अर्जुन ! धर्मराज बड़े मर्माहत हो गये थे, पता नहीं उनकी मूर्छा जगी या नहीं। चलो, पहिले चलकर धर्मराज को देख आवें, तब फिर कर्ण से युद्ध करेंगे।"

भगवान की इच्छानुसार अर्जुन धर्मराज युधिष्ठिर के शिविर में पहुँचे। तब तक चिकित्सकों के अथक परिश्रम से धर्मराज के शरीर से वाण निकाले जा चुके थे, उनके घावों को धोकर उनमें औषधि लगाकर पट्टी बांधी जा चुकी थी। धर्मराज की मूर्छा भंग हो चुकी थी, वे चैतन्य हो चुके थे। श्री कृष्ण और अर्जुन को प्रसन्न मुद्रा में अपने समीप आते देखकर धमराज ने समझा वह दुष्ट सूत पुत्र अवश्य ही अर्जुन के वाणों से मर कर परलोक वासी बन चुका है, इसीलिये दोनों का बड़े ही स्नेह से स्वागत करते हुए धर्मराज बोले—"बड़े सौभाग्य की बात हैं कि मैं तुम दोनों को कर्ण को मारकर भी सकुशल लौटा हुआ देख रहा हूँ। उस सूत पुत्र ने आज मुझे अत्यन्त ही व्यथित किया। वह एक मात्र मेरे हृदय का शूल था। उसी से मुझे सबसे अधिक भय था। वनवास में भी मैं उसी का स्मरण करके आहें भरा करता था। दुर्योधन उसी के वल भरोसे इतनी उछल-कूद किया करता था। तुम लोगों ने आज मेरे हृदय के कांटे को निकाल फेंका है। आज मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ। वह सूत पुत्र बड़ा भारी वली था। श्री कृष्ण की सहायता बिना दूसरा कोई उसे मार ही नहीं सकता था। वह दुष्ट बड़ी कठिनाई से मरा होगा?

मरते समय उसने प्राणों का पण लगाकर भयंकर युद्ध किया होगा ? अर्जुन । तुम्हारे अधिक चोट तो नहीं आई ! उस सूत पुत्र की मृत्यु का पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाओ ।"

धर्मराज की ऐसी उत्सुकता भरी बातें सुनकर अर्जुन ने कहा—"महाराज ! आपको क्लेश पहुँचाने वाला सूतपुत्र कर्ण अभी मरा नहीं है, अब शीघ्रता में आपको देखने चले आये । अब हम........."

अर्जुन आगे और भी कुछ कहना चाहते थे, किन्तु धर्मराज बीच में ही बोल उठे । एक तो कर्ण ने उन्हें बहुत अधिक पीड़ित किया था, दूसरे वे क्षत विक्षत और अचेत होने कारण अधीर भी हो रहे थे । वे अपना क्रोध के कारण संतुलन गँवा बैठे और अत्यन्त ही रोष में भर कर अर्जुन को जली कटी बुरी बातें सुनाते हुए कहने लगे—"अर्जुन ! तुझको धिक्कार है, जो मुझे पीड़ा पहुँचाने वाले सूत पुत्र को तू अब तक नहीं मार सका । तू इतना भारी गांडीव धनुष बांधे फिरता है, यह धनुष है या साधारण लाठी । यदि तुझमें बल पौरुष नहीं तो इस गांडीव को किसी को दे क्यों नहीं देता ।"

यह सुनकर अर्जुन भी कुपित हुए । उन्होंने म्यान से तलवार निकाल ली । भगवान् श्री कृष्णचन्द्र अर्जुन के अभिप्राय को ताड़ गये और अत्यन्त ही मधुर वाणी में बोले—"धनंजय ! तुम म्यान से तलवार क्यों निकाल रहे हो ? यहाँ कोई अपना शत्रु तो दिखाई देता नहीं, फिर यह प्रयास किसलिये ?"

अर्जुन ने कहा—"मैं धर्मराज का वध करूंगा ।"

आश्चर्य के साथ भगवान् ने पूछा—क्यों ?

अर्जुन ने कहा—मेरी प्रतिज्ञा है, जो मेरे गान्डीव धनुष की निन्दा करेगा, उसका वध कर दूंगा। धर्मराज ने मेरे गान्डीव की निन्दा की है, अतः प्रतिज्ञा पालन के हेतु मुझे उनका वध करना चाहिये। मैं बिना वध किये मानूंगा नहीं।

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और अत्यन्त ही मधुर वाणी में बोले—"जो धर्मशास्त्र के वचनों का यथार्थ मर्म नहीं समझते वे ऐसी ही मूर्खता कर बैठते हैं। देखो, वध करने का अभिप्राय सर्वत्र सिर को धड़ से पृथक् करना ही नहीं होता। अपने से बड़े गुरुजनों को तू कह देना उनकी निन्दा कर देना, पत्नी को अपनी शैया से पृथक् कर देना, राजा की आज्ञा का उल्लंन कर देना ये बिना अस्त्र के वध ही हैं। ब्राह्मण का भी सर्वस्व छीनकर उसे देश से निकाल देना वध ही है। अतः तुम धर्मराज को 'तू' कह कर निन्दा कर दो, उनका एक प्रकार से वध ही हो गया। इससे तुम्हारी प्रतीज्ञा पूरी हो जायगी।"

भगवान् की बात मानकर अर्जुन ने धर्मराज की बहुत निन्दा की। निन्दा करने के अन्तर उन्होंने अपनी खड्ग फिर निकाली।

भगवान् ने पूछा—"अब खड्ग किस के वध के लिये निकाल रहे हो।"

अर्जुन ने कहा—"अब मैं अपना ही वध करूंगा।"

भगवान् ने पूछा—"क्यों ?"

अर्जुन ने कहा—"मैंने अपने पितृ तुल्य गुरुवर ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज को निन्दा की है, इस पाप का प्रायश्चित्त आत्म हत्या

ही है, अपना वध करना ही इसका एक मात्र प्रायश्चित्त है।"

यह सुनकर भगवान् फिर हँसने लगे और बोले—"अब के भी तुम भूल कर गये। अरे, अपना भी वध शस्त्र से नहीं किया जाता। तुम अपनी प्रशंसा अपने ही मुँह कर लो। अपनी प्रशंसा स्वयं करना यह आत्मा हत्या के समान पाप है।"

इस कथा को कहने का अभिप्राय इतना ही है कि मैं अपने सम्बन्ध की बातें लिख कर आत्म हत्या जैसे पाप का अधिकारी बन सकता हूँ। क्योंकि अपने सम्बन्धी की बातें कितनी भी सावधानी से कही जायं, उनमें कहीं न कही आत्म प्रशंसा आ ही जायगी। यह जीव का सहज धर्म है, किन्तु मैं इस निजी वार्ता को आत्म प्रशंसा की नीयत से नही लिख रहा हूँ, यदि जान में अनजान में आत्म प्रशंसा हो जाय, तो पाठक पाठिकायें मुझे क्षमा कर दें। मैं तो पाठक और लेखक के व्यवहार को निभाने के निमित्त इस प्रसंग को लिख रहा हूँ।

यह लेखक पाठक का सम्बन्ध ऐसा घनिष्ट है कि इसमें छिपाने के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसा न होता तो भगवान् व्यास अपनी उत्पत्ति की अपवाद पूर्ण कथा को स्वयं ही क्यों लिखते। अपने पिता की निर्बलता अपनी माता के छिद्रों को क्यों स्पष्ट प्रकाशित करते। यदि वे इन बातों को छिपाना चाहते तो स्यात् छिपा भी सकते थे। लोगों तक ये बातें भले ही न पहुँचती, किन्तु व्यास जी अपने पाठकों के साथ न्याय न करते। इतनी उनमें कमी रह जाती।

मेरे अनशन के सम्बन्ध की भी बहुत सी बातें परदे की ओट में हुईं। बहुत से पाठक उनसे अनभिज्ञ ही रहे। मैं उन बातों

को अपने प्रेमी पाठकों से छिपाये रखूं तो मैं दोष का भागी बनूंगा। मेरा मन मानता नहीं कि मैं अपने पाठकों से कोई बात छिपाऊँ अतः धीरे-धीरे मैं सभी रहस्यमय बातों को बताऊँगा। पाठक बड़े धैर्य के साथ इस प्रसंग को सुननेकी कृपा करें।

हाँ, तो कहाँ तक बात हो गयी थी, ७ नवम्बर को अप्रत्याशित महान दुर्घटना से मैं सकुशल बाल-बाल बचकर बाजार लेन मे आ गया।

रात्रि के ही वायुयान से मुझे महाराष्ट्र के दौड़े पर जाना था। दूसरे ही दिन पन्ढरपुर का कार्यक्रम था। महाराष्ट्र के स्वयं सेवकों ने इसके लिये बहुत दिना से तैयारी कर रखी थी। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त हरिभक्त परायण श्री दाडेकर जी के नेतृत्व में हस्ताक्षर अभियान चालू था। कई लाख या करोड़ हस्ताक्षर उन्होंने कराये थे। मेरे महाराष्ट्र भर के दौरे के लिये बम्बई के सुप्रसिद्ध कलाकार गायक श्री शंकर जयकिशन जी की मोटर उन्होंने मँगवा रखी थी। जैसे भी हो तैसे कल मुझे पन्ढरपुर पहुँचना ही पड़ेगा। वायुयान में हमारे ३ स्थान पहिले से ही आरक्षित थे। पहिले से ही टिकटें ले रखी थीं। हमारी वायुयान की टिकटें जोशी जी पर थीं। उनसे निर्णय हो चुका था वायुयान के आध घन्टे पहिले वे हमें वायुयान स्थल पर मिलें। इसलिये दुर्घटना में मरे हुए, घायल हुए लोगों का हाल-चाल पूछ सायंकाल हम वायुयान के छूटने से कुछ समय पूर्व ही वायुयान स्थल पर पहुँच गये। किन्तु वहाँ जाकर देखते हैं, जोशी जी नहीं आये। बड़ी चिन्ता हुई वायुयान के छूटने का समय हो गया, हमें पल-पल भारी हो रहा था। क्या करें कैसे

करें, जोशी जी ऐसे असावधान व्यक्ति तो नहीं थे, वे क्यों नहीं आये। सबसे अधिक चिन्ता मुझे महाराष्ट्र के अपने प्रिय बन्धु स्वयं सेवकों की थी। उन्होंने कितने उत्साह से सभा की स्वागत सत्कार की तैयारियां कर रखी होंगी। कितने लोग निराश होंगे। एक स्थान पर समय से न पहुँचे, तो सब जगह नहीं पहुँच सकेंगे। कार्य-क्रम उन्होंने इतना व्यस्त रख रखा था कि कुछ घन्टों की देरी होने पर ही गड़बड़ी हो जायगी।

अपनी तीर्थ यात्रा गाड़ी को हम मदरास ही छोड़ आये थे। बम्बई में उसे देखने की आशा थी, अब तो उसे देखना ही भर था, क्योंकि महाराष्ट्र गुजरात का दौरा तो मोटर कारों से ही करके अनशन के लिये वायुयान से गोपाष्टमी से एक दिन पूर्व वृन्दावन पहुँचना है। अब वायुयान के छूटने में कुछ ही मिन्टों की देरी थी।

रामराज ने दूरभाष यन्त्र द्वारा पता लगाया तो मालूम हुआ जोशी जी तो गिरफ्तार हो गये। और भी सैकड़ों आदमी गिरफ्तार हुए हैं। अब हम क्या करें। वायुयान अधिकारी के पास गये अपनी विवशता बताई और जैसे भी हो तैसे इसी वायुयान से जाने की उनसे अनुमति चाही।

उन्होंने धैर्यपूर्वक हमारी बात सुनी अपनी सूची देखी और कहा—सूची में आपके नाम की तीन सीटें हैं। आपका रुपया भी जमा है, किन्तु हम नियमों में बंधे हैं। विवश है, आपको बिना टिकट के हम वायुयान में न चढ़ने देंगे।

हमने कहा—कोई भी उपाय हो सकता है?

सोचकर उन्होंने कहा—एक ही उपाय है आप नये टिकट

खरीद लें। वायुयान को हम आपके लिये १०-१५ मिनट रोक लेंगे।

अब यह नई आपत्ति। हमारे पास नई टिकट खरीदने का पैसा कहाँ ? हम तो सदा से कोरमकार पिचोतर सौ ही रहे हैं। रामराज ने तुरन्त जयदयाल जी को फोन किया। उन्होंने अपने आदमी से तुरन्त मोटर से रुपये भेजे। तीन टिकटें खरीदी गयीं। वायुयान खड़ा हुआ हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। दौड़कर हम उसमें चढ़ ही तो गये। "बोलो गौ माता की जय।"

आधी रात्रि के समय वायुयान बम्बई में पहुँचा। ज्यों ही हम उतरे, त्यों ही गुप्तचर विभाग के एक बड़े अधिकारी ने आकर मुझसे पूछा—आपका नाम प्रभुदत्त ब्रह्मचारी है ?"

मैंने कहा—"हाँ है तो, कहिये क्या आज्ञा है।"

उसने कहा—बम्बई के कलक्टर साहब आप से भेंट करना चाहते हैं, आप यहीं बैठिये मैं उन्हें बुलाये लाता हूँ यह कहकर वह दौड़ा-दौड़ा गया।

हमें जो लेने स्वयं सेवक आये थे, उन्होंने कहा—"महाराज, गाड़ी तैयार है, पन्ढरपुर की गाड़ी छूट जायगी। तुरन्त चलिये।" हम बिना उनकी प्रतीक्षा किये चल दिये रेल में बैठे और अपने ठीक कार्यक्रम के अनुसार पन्ढरपुर पहुँच गये।

इधर मैंने सुना समाचार पत्रों में यह छपा कि गौरक्षा आन्दोलन का एक प्रधान नेता सरकार की आँखों में धूल झोंक कर वायुयान से बम्बई भाग जाने में सफल हो गया।"

यह कितना असत्य प्रचार है, हमारे तो कितने दिनों से वायुयान में स्थान अरक्षित थे। परन्तु निन्दकों से कोई क्या कहे।

सैकड़ों पुलिस के सिपाही हमारे आगे पीछे घूम रहे थे, जैसे कोई राज्यपाल या राष्ट्रपति आता है। हम इतने स्वागत सत्कार का रहस्य ही न समझ सके। नासिक में भी यही दशा, बम्बई में पहुँचे वहा भी यही हाल। सब स्थानों में ऐसी भारी-भारी सभायें हुई कि उनका विवरण देना व्यर्थ है।

नासिक की सभा में एक मुसलमान मौलवी ने हमारा बड़ा भारी सत्कार किया। हमारे आदमियों ने उनका परिचय दिया-"ये यहाँ की बड़ी मस्जिद के इमाम है।"

मुझसे कर स्पर्श करते हुए उन्होंने कहा—"हुजूर तो हमारे वतन के ही हैं, यहाँ परदेश में आपको पाकर हमें निहायत खुशी हो रही हैं। मैं झूसी का ही रहने वाला हूँ।"

हमारी झूसी का एक मुसलमान यहाँ, महाराष्ट्र में--नासिक में–इमाम हो। बडी प्रसन्नता हुई। ऐसा लगा मानों अपना कोई घर का आत्मीय मिला हो। उन्होंने गौरक्षा के समर्थन में बहुत प्रभाव पूर्ण व्याख्यान दिया। अन्य प्रतिष्ठित मुसलमानों ने भी उनका समर्थन किया।

बम्बई में तो पूछना ही क्या? वहाँ के सुप्रसिद्ध उद्योगपति सेठ गजाधर प्रसाद जी सोमाणी तथा अन्यान्य लोगों ने बडी भारी तैयारी कर रखी थी। हम सुप्रसिद्ध गो भक्त उद्योगपति आर्य समाज के नेता वल्लभ जी सूरजी के घर ठहरे थे। दूरभाष से सूचना पाकर नागपुर से संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी गोलवलकर जी भी आ गये। २ दिन हमें बम्बई में रहना

था। एक दिन चौपाटी में, एक दिन शिवाजी पार्क में दो महती सभायें हुई।

बम्बई में ही हमें एक अशुभ समाचार मिला। हमारी तीर्थ यात्रा गाडी को सरकार ने नासिक में भंग कर दिया। पूछने से पता चला कि कई सौ पुलिस वालों ने आकर गाडी को चारों ओर से घेर लिया और फिर पूछा—"ब्रह्मचारी जी कहाँ हैं ?"

हमारे रेल के व्यवस्थापक ने कहा—"वे तो महाराष्ट्र में चारों ओर भ्रमण कर रहे हैं। नित्य दैनिक पत्रों में उनके कार्यक्रम छप रहे हैं, लाखों आदमी उनकी सभाओं में जाते हैं। आप हमसे उनका पता पूछते हैं।"

उन्होंने कहा—"अच्छा, अब यहाँ से आगे आपकी गाड़ी नहीं जायगी।"

व्यवस्थापक ने कहा—हम पूरी गाडी का रुपया जमाकर चुके हैं। हमारा इतने दिनों का ठेका हो चुका है। हम अब ७०० आदमियों को बीच मे कहाँ छोड़ें ?

उन्होंने कहा—"यह बात आप भारत सरकार से पूछिये। हमें तो जैसी आज्ञा मिली है वैसा करेंगे। सुना है इसी तीर्थ यात्रा गाड़ी में ७०० साधु पिटरौल लिये हुए हैं, वे बम्बई को जला देंगे इसलिये आपकी गाडी यहीं भंग कर दी गयी है। अब आपको न इन्जन मिलेगा न आपकी गाड़ी ही जा सकेगी।"

हमारे व्यवस्थापक बलदेवाचार्य ने कहा—"हमारी गाड़ी में आप लोग देख लें, एक भी साधु नहीं। सब बूढ़े-बूढ़े स्त्री पुरुष हैं, कही भी देख लीजिये। पिटरौल की एक भी बोतल हो तो।"

उन लोगों ने कहा—"हम यह बात नहीं जानते। यह बात आप भारत सरकार से करें। हमें तो जैसी आज्ञा मिली है वैसा करेंगे।"

यह कहकर हमारी रेल का इन्जन ले लिया। हमारे डिब्बे सब अलग-अलग कर दिये। यात्री सब उतार दिये गये। प्लेट फारम पर जहाँ सब स्त्री पुरुष बैठे थे। उन्हें चारों ओर से घेर कर पुलिस खड़ी हो गयी। स्त्रियाँ रोने लगीं। एक अप्रत्याशित घटना घट गयी।

अब उस परदेश में किया क्या जाय। बलदेवाचार्य रेल वालों के पास गये। रेल के एक बहुत बड़े अधिकारी रतन लाल जी उत्तर प्रदेश के थे, उन्होंने बड़ी सहानुभूति दिखायी और स्पष्ट कह दिया भारत सरकार की आज्ञा से यह सब हुआ है, हम रेल वाले इसमें कुछ नहीं कर सकते। आपकी गाड़ी अब किसी भी प्रकार आगे नहीं जा सकती। हाँ, मैं इतना कर सकता हूँ, आपके सब डिब्बों को अलग-अलग भिन्न-भिन्न गाड़ियों में लगवा कर बम्बई भेज सकता हूँ। दो दिन में आपके सब डिब्बे बम्बई पहुँच सकते है।"

हमारे लोगों ने इस बात को स्वीकार कर लिया। डिब्बे एक-एक दो-दो करके बम्बई के सेन्ट्रल स्टेशन पर पहुँच गये। पुलिस यहाँ भी यात्रियों को घेरे खड़ी थी, स्त्रियाँ रोने लगीं चिल्लाने लगीं। वहाँ इतने आदमियों को न भोजन की व्यवस्था, न पानी की, न प्रकाश की मानों हमारी गाड़ी के ऊपर शनि की वक्र दृष्टि आ गयी। मैं बम्बई में देखने गया, तो उनकी दशा देखकर भौचक्का रह गया।"

रेल का दुःखद प्रकरण अभी शेष है, जितना स्थान इसके लिये रखा था, वह पूरा हो गया अब आगे का वृत्तान्त पाठक पाठिकायें अगले खंड में पढ़ें।

छप्पय

है पथ अति ही विकट विघन बाधा बहु भारी।
साथी संगी सगे स्वार्थ के सब सहकारी॥
भ्रम्यो जगत में बहुत निकट तें सबहिं निहारे।
किन्तु सहायक नहीं-मिले सब भये किनारे॥
सब की आशा छोड़ि कें, चरन शरन तुम्हरी गही।
स्वीकारें भगवन् तुरत, बात हिये की प्रभु कही॥

गीता-माहात्म्य

[४]

चतुर्थ अध्याय

गीतातरी जगति दिव्यदृढा मनोहरा,
कैवर्त केशव स्वयं कुशलाप्रमेयः।
समुत्सुकाये भवपारगन्तुम्
पठन्तु नित्यं च चतुर्थसर्गम् ॥❀
(प्र० द० श०)

छप्पय

चौथो जो अध्याय पुण्यप्रद भगवत् गीता।
करैं प्रेम तें नित्य पाठ तिनि नहिं भवभीता॥
सत्यतपा मुनि करैं तपस्या इन्द्र डरायो।
उभय अपसरा भेजि विघ्न तिनि तप करवायो॥
शाप दयो मुनि कुपित ह्वै, दोऊ तरु बदरी घनो।
दोऊ काशी भईं तरु, पास उभय मोटो तनो॥

❀ गीता रूपी जो सुदृढ़ दिव्य मनोहर नौका है तथा जिसके मल्लाह अद्वितीय कुशल श्री कृष्ण हैं, यदि तुम उस पर चढ़कर संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये उत्सुक हो, तो नित्य नियम से चौथे अध्याय का पाठ किया करो।

यह संसार साधुओं द्वारा ही सुखप्रद बना हुआ है, इस संसार में साधु संत, महात्मा महापुरुष भगवत् भक्त न हों, तो यह संसार रौरव नरक बन जाय। क्योंकि जीव का स्वभाव तो आपाधापी करने का है। मेरा ही पेट भर जाय, विषय भोग की सामग्रियां मुझे ही मिल जायँ, लोग मेरा ही आदर करें, मेरी ही बात मानें। इस प्रकार मैं और मेरा ने ही संसार में स्वार्थ का बोलबाला बढ़ा रखा है। मैं ही सुखी रहूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ माना जाऊँ जीव की यह इच्छा स्वाभाविक है। संत महात्मा मैं मेरी से दूर रहते हैं। वे सम्पूर्ण वसुधा को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं। उनका मंत्र है भगवती लक्ष्मी ही हमारी माता है, विष्णु भगवान् ही हमारे पिता हैं, भगवत् भक्त ही हमारे सगे सम्बन्धी बन्धु बान्धव हैं और त्रिभुवन ही हमारा स्वदेश है। वे सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही आत्मा को देखते हैं। जो बात अपने लिये हितकर प्रतीत हो उसका व्यवहार सबके साथ करते है, जो बात अपने को बुरी लगे, उसका व्यवहार दूसरे के साथ नहीं करते। भगवत् भक्त प्राणी मात्र को अपने स्वामी का रूप मानते हैं। केवल अपने को ही प्राणी मात्र का सेवक समझते हैं। वे जो भी करते है, परोपकार की ही दृष्टि से करते है। वे सदा भगवान् के आराधन तथा चिन्तन में निमग्न रहते है। जो जिसके गुणों का स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करता रहेगा, वह उसी के स्वभाव तथा गुणों वाला बन जायगा। साधु महात्मा सदा भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं अतः उनका स्वभाव भी भगवान् के ही समान दयामय, परोपकार-मय बन जाता है। उनमें भी भगवान् के जैसे गुण आ जाते है।

साधु महात्मा सदा घूमते फिरते रहते हैं उनके घूमने फिरने

से संसारी प्राणी पावन बन जाते हैं। वे मुख से चाहें एक भी शब्द न कहें, कुछ भी उपदेश न दें, किन्तु उनके शरीर से जो एक प्रकार की दिव्य गंध निकलती है, उसी से दुखी प्राणी सुखी हो जाते हैं। यदि साधु संत इस पृथ्वी पर विचरण न करते होते, तो इन न चलने वाले वृक्ष पर्वत आदि का कैसे उद्धार होता ? पर्वतों की कंदराओं में बैठकर संत महात्मा भजन करते हैं, इससे उन पर्वतों का भी उद्धार हो जाता है। साधु संत जिन वृक्षों के नीचे बैठकर विश्राम लेते हैं, जिनके नीचे बैठकर जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान धारणा तथा कथा कीर्तन करते हैं, इनसे उन वृक्षों का भी उद्धार हो जाता है। ये वृक्ष भी सुनते हैं। किन्तु कथा कहने को साधु महात्माओं को बुला नहीं सकते। परोपकार की मूर्ति दया के सागर साधु संत स्वयं ही जाकर वृक्ष आदि को कथा कीर्तन सुनाते हैं, जिससे वे भी परमार्थ के पथ की ओर अग्रसर होते हैं।

एकबार भगवान् रामानुजाचार्य जी अपने कुछ शिष्यों के साथ यात्रा कर रहे थे। यात्रा में ही वे किसी वन में एक सघन पीपल के नीचे ठहरे। जब आचार्य स्नानादि नित्य कर्मों से निवृत्त हो गये तब उन्होंने शिष्यों को आज्ञा दी—"प्रपत्ति की सब सामग्री एकत्रित करो।"

जब कोई जिज्ञासु गुरु के शरणापन्न होता है, उनका शिष्यत्व स्वीकार करना चाहता है, तो उसे प्रपत्ति कहते हैं। उसके मन्त्र, तिलक, मुद्रा नाम आदि संस्कार किये जाते हैं। रामानुज संप्रदाय में शंख चक्रादि मुद्रायें लगायी जाती हैं।

आचार्य की ऐसी आज्ञा सुनकर शिष्यों को बड़ा आश्चर्य

हुग्रा, कि यहाँ घोर जंगल में प्रपत्ति के लिये कोई भी तो व्यक्ति दिखायी नहीं देता। आचार्य भगवान् किसे दीक्षा देंगे। किसके संस्कार करायेंगे।" किन्तु गुरु की आज्ञा सर्वोपरि है, उसके पालन में तर्क वितर्क ननु नच न करनी चाहिये, यही सोचकर उन्होंने शंख, चक्र, चंदन, अक्षत्, रोली, समिधा, हवन, पूजन सामग्री तथा सभी उपयोगी वस्तुएँ यथा क्रम सजाकर रख दी। आचार्य ने उस पीपल के वृक्ष को ही विधिवत् दीक्षा दी। उसके तिलक मुद्रा लगाये, मन्त्र दिया।

दीक्षा समाप्त होते ही सबने बड़े आश्चर्य के साथ देखा, पीपल की पत्तियाँ मुरझाने लगी। वह क्रम-क्रम से सूखता हुआ, सर्वथा सूख गया।

तब शिष्यों ने समझा आचार्य ने पीपल को दीक्षित करके उसे कृतार्थ किया है। ऐसी सामर्थ्य सच्चे सद्गुरु आचार्यों में ही होती है। ये समस्त जीवों के कल्याण के ही हेतु समस्त चेष्टायें करते रहते हैं। भागवतकार कहते हैं—जितने यज्ञ हैं, तप हैं तथा और भी दान, धर्म तीर्थ व्रत है ये सब जीवों को अभय देने की सोलहवीं कला के भी समान नहीं हैं। और जीवों को अभय पद की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब वे भगवान् के शरणापन्न हों, किसी सद्गुरु संत महात्मा के सत्संग का लाभ उन्हें प्राप्त हो। सन्त महात्मा समस्त जीवों पर अहैतुकी कृपा किया करते हैं। अनजान में भी उनका किसी से संग हो जाय, तो उसका भी उद्धार हो जाता है।

छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ गुरु रामदास जी एक बार अपने शिष्यों सहित शिवाजी के किले की ओर आ रहे थे।

मार्ग में शिष्यों को भूख लगी। समीप ही एक ईख का खेत था। शिष्य लोग खेत में ईख उखाड़-उखाड़ कर चूसने लगे समर्थ चुपचाप बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी न कहा। इतने में ही खेत वाला आ गया। किसान ने देखा इन संड-मुसंड साधुओं ने तो मेरी सभी खेती चौपट कर दी है। उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"इन सब साधुओं का महंत यही है इसी ने मेरा खेत उजड़वाया है।" यह सोचकर वह क्रोध में भरकर समर्थ को ही मारने लगा। शिष्यों ने छुड़ाना भी चाहा, तो समर्थ ने मना कर दिया। जब वह मार पीट कर चला गया, तो समर्थ शिष्यों सहित शिवाजी के यहाँ पहुँचे। शिवाजी ने समर्थ गुरु का बड़ा भारी आदर सत्कार किया। रात्रि में जब शिवाजी गुरुजी की सेवा के निमित्त आये और उनके श्रीअंगों को दबाने लगे, तब उन्हों देखा सम्पूर्ण शरीर पर मार के नीले-नीले चिन्ह उभड़ रहे हैं। उन्होने अत्यन्त आश्चर्य के साथ दुःख भरे स्वर में पूछा—गुरुदेव! यह किस दुष्ट का कार्य है? आपके श्री अंग में यह चोट किसने पहुँचायी है?"

समर्थ बड़ी देर तक आनाकानी करते रहे, जब शिवाजी माने ही नहीं वे अधिक हठ करने लगे, तब कहा—"अच्छा, तुम यदि मुझसे पूछकर उस व्यक्ति को दण्ड दो, तो मैं उसका नाम बताऊँ ?"

शिवाजी ने स्वीकार किया, किसान का नाम ज्ञात होने पर उसे तुरन्त बुलवाया गया। वह शिवाजी के राज्य का ही किसान था। जब उसने देखा, जिन साधु को मैंने मारा है, वे तो छत्रपति महाराज शिवाजी के गुरु हैं, तब तो वह अत्यन्त भयभीत हुआ।

शिवाजी ने उसे गुरु के सम्मुख उपस्थित किया, और आज्ञा चाही—गुरुदेव ! यह किसान उपस्थित है, इसे क्या दण्ड दिया जाय ?"

समर्थ ने कहा—"जो मै कहूँगा, वह देना पड़ेगा ?"

शिवाजी ने कहा—"भला गुरुदेव की आज्ञा का भी कभी उल्लङ्घन हो सकता है ?"

समर्थ ने कहा—"इस पर सब कितना खेत है ?

पूछ कर बताया गया, कि इस पर सौ बीघा खेत है।

समर्थ ने कहा—"यह खेत इसे सदा के लिये दे दिया जाय। इस पर कभी भी लगान न लगे। सदा के लिये माफीनामा लिख दिया जाय।

गुरु की आज्ञा का पालन किया गया, उसका सदा के लिये लगान माफ कर दिया गया। सुनते हैं उसके वंशजों पर वे खेत अभी तक हैं जिन पर लगान नहीं लिया जाता।

जब शत्रुभाव से पूजा न करके मारने पर भी संतों के संग से लाभ होता है, तो जो श्रद्धाभक्ति से उनका सत्संग करते हैं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्रीविष्णु लक्ष्मीजी को श्रीमद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का माहात्म्य बताते हुए कह रहे हैं प्रिये ! अब मैं तुम्हें श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय का माहात्म्य सुनाता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक श्रवण करो।

भगवती भागीरथी के पावन तट पर शिवजी के त्रिशूल पर बसी हुई वाराणसी नाम की प्रसिद्ध नगरी है, जो काशी के नाम से विख्यात है। जिसे पहिले आनन्द कानन भी कहते थे। इस पुरी के अधिष्ठातृदेव भगवान् विश्वनाथ हैं, उनके समीप ही भगवती माँ अन्नपूर्णादेवी भी सदा निवास करती हैं।

उसी वाराणसी पुरी में भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर में भरत नाम के एक परम योगनिष्ठ महात्मा निवास करते थे। वे बड़े त्यागी तपस्वी परोपकारी तथा हरिभक्त परायण सन्त थे उनका नित्य का नियम था, कि वे बड़ी सावधानी से अव्यग्र चित्त होकर प्रेमपूर्वक गीताजी के चतुर्थ अध्याय का पाठ किया करते थे। नित्य नियमपूर्वक अर्थ समझकर पाठ करते-करते उन्हें गीता का चतुर्थ अध्याय सिद्ध हो गया था। निरन्तर के पाठ से उनके कल्मष कट गये और उनका अन्तःकरण विशुद्ध विमल बन गया। वे समदर्शी बनकर निर्द्वन्द्व बने विचरने लगे।

एक समय वे देवदर्शनों की इच्छा से, काशी की पंचक्रोशी परिक्रमा के निमित्त नगर की सीमा में परिभ्रमण करने लगे। एक दिन परिभ्रमण करते हुए दोपहर के समय वे कुछ श्रमित से हो गये। विश्राम की इच्छा से वे समीप के ही एकान्त स्थान में बैठ गये। वहाँ दो बड़े ही सुन्दर सघन बेरिया के वृक्ष थे। वे दोनों वृक्ष लगभग ३॥ हाथ के अन्तर पर थे। उन दोनों के तनों में तो पृथ्वी पर ३॥ हाथ का अन्तर था, किन्तु ऊपर जाकर दोनों की शाखायें, मिल गयी थीं, इससे उनके नीचे सूर्य का ताप नहीं आता था। महात्माजी ने एक बेरिया के वृक्ष की जड़ में तो अपना सिर रखा और दूसरी की जड़ में अपने पैर फैला दिये।

कुछ देर विश्राम करके महात्माजी तो आगे के लिये चले गये। किन्तु उन बेर के वृक्षों के पत्ते कुम्हिलाने लगे शनैः शनैः वे दोनों वृक्ष सूखने लगे और ५-६ दिन में सर्वथा सूख ही गये। अर्थात् उन दोनों वृक्षों की मृत्यु हो गयी।

कालान्तर में वे दोनों वृक्ष किन्हीं पवित्र ब्राह्मणों के कुलों में कन्या होकर उत्पन्न हुए। वे कन्यायें बड़ी ही सुन्दरी सुशीला तथा गुणवती थीं। जो भी देखता वही उन्हें देखकर प्रसन्न हो जाता। इस प्रकार शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की किरणों के समान बढ़ते-बढ़ते वे सात वर्ष की हो गयीं। एक दिन दैवयोग से परिभ्रमण करते हुए वे महात्मा भरत मुनि उसी गाँव में आ गये, जिसमें वे कन्याय उत्पन्न हुई थीं। कन्याओं ने भरत मुनि को पहिचान कर बड़ी श्रद्धा भक्ति से उनके चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर बड़ी दीन वाणी में कहने लगीं—"महात्मन्! आपके ही कृपा प्रसाद से हम बेर के वृक्ष की योनि त्याग कर इस मानव योनि में आयीं हैं। आप बड़े कृपालु है, जिनका चरणस्पर्श आपके श्रीअंग से हो जाता है, उसका उद्धार अवश्यम्भावी है। आप नररूप धारी श्री हरि हैं।"

उन लड़कियों की बात सुनकर भरत मुनि को परम विस्मय हुआ। उन्होंने मधुर वाणी से कहा—"बेटियो! मुझे स्मरण नहीं कि मैंने कभी तुम्हारा उद्धार किया हो। मैंने कब और किस साधन से कहाँ तुम्हारा उद्धार किया, इस बात को मुझे बताओ।"

कन्याओं ने कहा—"ब्रह्मन्! हम काशी की सीमा पर-पंच-

कोशी मार्ग में—दोनों दो बेर के वृक्ष के रूप में थीं। आप एक वार देवदर्शन करते हुए हमारे समीप आये और हमारे नीचे कुछ देर लेटकर विश्राम किया था। हममें से एक की जड़ में तो आपने अपना सिर रखा था, दूसरी की जड़ में चरण रखे थे। बस, आप परमकृपालु सन्त का स्पर्श पाते ही हम तुरन्त उस स्थावर योनि से छूटकर इस मानव शरीर में आ गयी। आपने हमारे नीचे विश्राम करके गीताजी के चौथे अध्याय का पाठ भी किया था, इससे उस पाठ के प्रभाव से तथा आप जैसे सिद्ध महात्मा के अंगस्पर्श के प्रभाव से हमारी वह योनि छूट गयी।"

भरत मुनि ने पूछा—"पुत्रियो! तुम बड़ी संस्कारी जान पड़ती हो। तुम्हारे रूप तथा सद्गुणों से ऐसा लगता है कि तुम कोई पुण्यात्मा प्राणी रहीं होगी। यदि तुम्हें याद हो, तो मुझे अपने वृक्ष होने का कारण बताओ।"

यह सुनकर उनमें से एक कन्या बोली—"ब्रह्मन्! जीव अपने सुकृत तथा दुष्कृत कर्मों के अनुसार ही उच्च तथा नीच योनियों में आता-जाता रहता है। भगवन्! पहिले हम स्वर्ग की अप्सरायें थीं। हमें अपने रूप तथा सौन्दर्य का बड़ा गर्व था। देवराज इन्द्र भी हमारा बड़ा आदर करते थे और जहाँ कहीं किसी का तप भंग कराना हो, वहाँ वे हमें भेजा करते थे।"

महात्मन्! पुण्यतोया गोदावरी के तट पर छिन्नपाप नाम का एक परम पुण्यप्रद उत्तम तीर्थ है। उसकी पावनता के कारण दूर-दूर से यात्री उसमें स्नान के लिये आया करते थे। उस पावन तीर्थ में ही एक सत्यतपा नाम के तपस्वी महात्मा निवास

करते थे। वे संसारी सभी विषयों से उपराम होकर निरन्तर तपस्या में ही लगे रहते थे। वे ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तापते। चारों ओर अग्नि की धूनियाँ प्रज्वलित करके और पंचमसूर्य की किरणों को अपने सिर पर लेते। वर्षाऋतु में वे वर्षा भर मैदान में बैठकर पूरे वर्षा के जल को अपनी जटाओं में लेते। उनकी जटायें सदा भीगी ही रहतीं। जाड़े के दिनों में शीत जल में खड़े होकर जप करते। सैकड़ों रात्रि में भरकर रखे हुए मिट्टी के घड़ों के जल से स्नान करते। इस प्रकार वे उग्र तपस्या करते हुए वहाँ निवास करते थे। वे तपस्वी महात्मा बाहर भीतर से सदा शुद्ध रहते। इस प्रकार तपस्या करते-करते उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को तथा अन्तःकरण को विशुद्ध बना लिया था। यह भी बात नहीं, कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, केवल तपस्वी ही भर हों। वे महान् विद्वान् थे। सभी शास्त्रों का उन्हें ज्ञान था। उनकी वाणी में ऐसा माधुर्य था, कि जब वे शास्त्रों का प्रवचन करते, तो सहस्रों नर नारी मंत्रमुग्ध की भाँति उनके प्रवचनों को सुनते-सुनते तृप्त नहीं होते थे। वे बड़े ही लोकप्रिय त्यागी, तपस्वी, मधुरभाषी, धैर्यवान् तथा व्यवहार कुशल थे। उनके सद्गुणों की ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। यहाँ तक कि ब्रह्माजी भी उनके पास आया-जाया करते थे। और उनसे चिरकाल तक सत्संग करते। वे जीवन्मुक्त महापुरुष के समान अपना समय बिताते थे।

उनकी ऐसी लोकप्रियता तथा तपस्या को देखकर देवराज इन्द्र घबड़ा गये। उन्हें शंका होने लगी कि कहीं ये महर्षि मेरे इन्द्रासन को न ले लें। इनकी ऐसी ही अलौकिक तपस्या निर्विघ्न चलती रही, तो इन्द्रासन प्राप्त कर लेना कोई असम्भव नहीं है।

अंतः शीघ्र ही इनकी तपस्या में विघ्न डालना चाहिये।"

ऐसा निश्चय करके देवराज इन्द्र ने हम दोनों अप्सराओं को बुलाया और हमें आज्ञा दी—"अप्सराओ। तुम स्वर्ग की भूषण हो, तुम्हारा रूप सौन्दर्य अनुपम है। मुझे जब-जब भी किसी से भय होता है, तब-तब तुम्ही से सहायता लेता हूँ। देखो, गोदावरी के तट पर जो छिन्नपाप नामक सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है, उसी में सत्यतपा नाम के महर्षि तपस्या कर रहे है उनकी तपस्या महान् उग्र है वे मुझे इन्द्रपद से हटाकर स्वय इन्द्रपद को प्राप्त करना चाहते हैं। वे दिव्य स्वर्गीय सुखों को भोगने की अभिलाषा से ही ऐसा उग्र तप कर रहे हैं। तुम दोनों उनकी तपस्या में विघ्न डालो और उन्हे तपस्या से विरत बना दो।"

देवराज इन्द्र की ऐसी आज्ञा पाकर हे मुनिवर! हम दोनों अन्य अप्सराओं, कामदेव, मलयानिल, वसत तथा गन्धर्वादि को साथ लिये हुए उन मुनि के आश्रम के निकट गयीं।

वसत ऋतु ने चारो ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। शीतल, मन्द सुगन्ध लिये मलयानिल बहने लगा। कामदेव अपने ईख के धनुप पर पंचशर ताने मुनिको विचलित करने को उद्यत हो गया। हम दोनो अन्य अप्सराओं के सहयोग से सरस गीतों का गायन करने लगी। गम्भीर स्वर मंद-मंद बजते हुए मृदंग के स्वरों में वीणा के स्वर झकृत होने लगे। वेणु के सुखकर परम मधुरनाद के साथ अन्य वाद्यों के स्वर एक विचित्र ही स्वर लहरी का सृजन करने लगे। हम गा ही नहीं रही थी। ताल, स्वर और लय के साथ विविध भाँति के हाव-भाव कटाक्ष दिखाकर नृत्य भी कर रही थीं। कामोद्दीपक जितनी भी चेष्टायें हैं, हम

सब कर-करके श्रमित हो गयीं, किन्तु उन निर्विकार अन्तःकरण वाले महर्षि के मन पर हमारे काम भाव उद्दीपन करने वाले नृत्य गीतों का मोह जनित उन्मत्त गति का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। यही नहीं उन जित क्रोध मुनि के मन में कुछ क्रोध का संचार हो गया।

उन्होंने तुरन्त हाथ में गोदावरी का पवित्र जल लेकर हम दोनों को शाप दिया—"तुम दोनों ने मेरे तपोमय पथ को कंटकाकीर्ण बनाने का प्रयास किया है, अतः तुम दोनों गंगा तट पर काँटे वाली बेरिया के वृक्ष बन जाओ।"

ऋषि का ऐसा दारुणशाप सुनकर हमारे तो होश उड़ गये। हमने अत्यन्त शीघ्रता से जाकर महर्षि की चरण बन्दना की, उनकी स्तुति की और विनीत वचनों से उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा—"मुनिवर! आप हम पर प्रसन्न हों, स्वामिन्! हम स्वतन्त्र नहीं हैं, पराधीना हैं। हम अपने मन से यहाँ नहीं आई हैं। हमें तो देवराज इन्द्र ने भेजा है। हमने जो भी कुछ किया है, अपने स्वामी इन्द्र की आज्ञा से ही किया है. इतने पर भी यदि हमसे कोई जान में अनजान में अपराध हो गया हो, तो उसे अपने दयालु स्वभाव के कारण क्षमा कर दीजिये।"

मुनियों का कोप तो पानी की लकीर के समान होता है। क्षण भर वे कुपित से प्रतीत होते हैं, फिर वैसे ही हो जाते है। इसीलिये उन्हें क्षणार्धमन्यु कहते हैं। अप्सराओं की विनय सुनकर भरतमुनि कहने लगे—"देखो, मैंने कभी हँसी में भी झूठ नहीं बोला है, अतः तुम दोनों को काशी के समीप गंगातट पर बेरियाँ

का वृक्ष तो अवश्य होना पड़ेगा। किन्तु जब गीता के चतुर्थ अध्याय के जापक भरतमुनि जब तुम्हारी छाया में लेटेंगे और गीता के चतुर्थ अध्याय का पाठ करेंगे, तब तुरन्त ही तुम दोनों शाप से मुक्त होकर मर्त्यलोक में जन्मधारण करोगी। वहाँ तुम जातिस्मृरा होगी अर्थात् तुम्हें पूर्व जन्म की सब बातें याद रहेंगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वे विप्र कन्यायें महात्मा भरत-मुनि से कह रही हैं-सो, ब्रह्मन् आपने ही हमारे नीचे बैठकर हमें गीता का चतुर्थ अध्याय सुनाकर हमारा उद्धार किया है। हम किन शब्दों में आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। हम आपकी अत्यन्त ही आभारी हैं, जो आपने हमें स्थावर योनि से छुड़ाकर इस उत्तम योनि में भेजा। आप जैसे दयालु परोकारी मुनि धन्य हैं, जो जीवों के उद्धार में सतत लगे रहते हैं और भगवती गीता का चतुर्थ अध्याय भी धन्य है, जिसके श्रवण मात्र से जड़ भी चैतन्यता लाभ कर सकते हैं। अब हमें विश्वास हो गया कि आप का दर्शन तथा गीता का चतुर्थ अध्याय हमें स्थावर योनि से ही नहीं छुड़ावेगा, किन्तु वह हम दोनों को भयानक संसार सागर से भी उस पार लगा देगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! गीता के चतुर्थ अध्याय की इतनी महिमा सुनकर महामुनि भरत अत्यन्त प्रसन्न हुए। कन्याओं ने बड़ी श्रद्धा भक्ति सहित मुनि के पाद पद्मों में पुनि-पुनि प्रणाम किया और उन्हें अत्यन्त आदर के साथ विदा किया।

मुनि के चले जाने के अनन्तर वे दोनों कन्यायें बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ प्रतिदिन श्रीमद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का पाठ करने करने लगीं। उस पाठ के प्रभाव से उन दोनों का

उद्धार हो गया। उनको परमगति की प्राप्ति हुई। यहाँ तक मैंने गीताजी के चतुर्थ अध्याय का माहात्म्य सुनाया। अब आगे पंचम का भी माहात्म्य सुन लीजिये।

छप्पय

काशीवासी भरत महामुनि इक दिन आये।
उभय बेरिया वृक्ष मध्य लेटे हरषाये॥
करि चौथो अध्याय पाठ तहँ तैं चलि दीन्हे।
भईं उभय द्विज सुता एक दिन मुनि तिनि चीन्हे॥
सकल कह्यो वृत्तान्त जब, भरत परम प्रमुदित भये।
पाठ चतुर्थोऽध्याय वर, गीता सुनि बहु तरि गये॥

गीता-माहात्म्य

[५]

गीतायाः पंचमाध्यायं सर्व सौख्य फलप्रदम् ।
ये पठन्ति नरा भक्तया ते तरन्ति भवाब्धिकम् ॥*

(प्रं० द० ब०)

छप्पय

अब पंचम अध्याय महातम तुम्हें सुनाऊँ।
पिंगल खल मद्रीय कथा ताकी समुझाऊँ॥
द्विजपन तजि नित नृत्य करै पर नारी लंपट।
ताकी कुलटा नारि ताहि ताड़ै नित ही शठ॥
निशि पिंगल कूँ मारिकें, स्वयं मरी शुग्गी भई।
गिद्ध भयो पिंगल अधम, शुकी तासु सम्मुख गई॥

---

* गीता का पचम अध्याय सभी प्रकार के सुखो को देने वाला है जो पुरुष इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं, वे इस संसार रूप सागर को तर जाते हैं।

जैसा मनुष्य का स्वभाव होता है, उसके गुण उसके प्रत्येक अंग में व्याप्त हो जाते हैं। पुण्यात्माओं की अस्थियाँ भी पावन बन जाती हैं और पापियों के मृतक शरीर के मांस को काक गृद्ध तथा सियार कुत्ता तक नहीं खाते। पाप पुण्य के संस्कार शरीर की सब धातुओं में बिंध जाते हैं। तभी तो पुण्यात्मा प्राणी किसी तनिक से पाप के कारण नरक दर्शन के निमित्त जाते हैं, तो उनके अंग की सुगन्धि के कारण नरक में रहने वाले प्राणी परम प्रमुदित हो जाते हैं। एक स्थान पर एक पुण्यात्मा ऋषि की अस्थियाँ पड़ी हुई थीं। उनके ऊपर से चित्ररथ गन्धर्व अपनी स्त्रियों सहित विमान से जा रहा था। अस्थियों का अनजान में भी अपमान करने के कारण चित्ररथ गन्धर्व नीचा सिर किये हुए विमान से गिर पड़ा। अस्थियों का ऐसा प्रभाव देखकर चित्ररथ परम विस्मित हुआ। फिर उन्हें श्रद्धापूर्वक ले जाकर श्री गंगा जी में प्रवाहित कर आया।

ये सब तो प्राचीन कथायें हैं। आधुनिक काल में भी इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं। समुद्र पार के आंग्ल प्रदेश में एक बड़ा भारी नामी चित्रकार रहता था। उसके चित्रों की दूर-दूर तक ख्याति थी। महान् चित्रकार होने के साथ ही साथ वह परम सदाचारी, सत्यवादी तथा परोपकार परायण व्यक्ति था। किसी दुर्घटना में उसके दायें हाथ का पूरा पंजा कट गया। उसके मित्र एक सुप्रसिद्ध चिकित्सक ने एक तत्काल मृतक पुरुष के हाथ को काटकर उसके हाथ में जोड़ दिया। हाथ जुड़ गया और सब काम ठीक-ठीक करने लगा। यह नया लगा हाथ बोझ उठा लेता, भोजन ठीक-ठीक करा देता, किन्तु यह चित्र नहीं बना सकता था। जब से यह नवीन हाथ लगा, तब से

उसकी एक बड़ी बुरी आदत पड़ गयी। इस चित्रकार की बिन इच्छा के भी यह हाथ समीप के बैठे पुरुष की जेब में से अनेक वस्तुओं को चुरा लेता। दूसरों की जेबों को सफा कर देता।

इससे इस चित्रकार को महान् आत्मग्लानि रहने लगी। वह नहीं चाहता था, फिर भी वह हाथ अपने आप दूसरों की जेबों को सफा करने लगा। अपनी मनोव्यथा को वह दूसरों के सम्मुख व्यक्त करने में भी असमर्थ था। एक दिन उसने अत्यन्त आत्म ग्लानि के कारण आत्महत्या करली। उसके चिकित्सक मित्र ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वह दौड़ा-दौड़ा उसके समीप गया। मरते समय अपनी आत्महत्या का कारण बताते हुए उसने अन्तिम पत्र में अपनी सब व्यथा लिख दी।

चिकित्सक ने दूरभाष यन्त्र द्वारा पुलिस से उस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूछताछ की जिसका हाथ काटकर इसकी बाँह में लगाया गया था। अनुसन्धान के पश्चात् विदित हुआ कि जिस व्यक्ति का मृतक हाथ काटकर चित्रकार के लगाया गया था, वह एक नामी जेबकतर था। रेल से कटकर उसकी मृत्यु हुई थी।

जब मृतक हाथ में भी जीवित व्यक्ति की आदत आ सकती है, तो जीवित आदमियों के सद्गुण या दुर्गुण आ जाना कौन सी आश्चर्य की बात है। यह जीव संस्कारों के द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता है। भाग्यवश किसी भी प्रकार इसे सत्कर्म करने वाले संत का समागम हो जाय, तो बेड़ापार ही है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! अब मैं आपको श्रीमद्भगवद् गीता के पंचम अध्याय का महात्म्य सुनाता हूँ। जैसे शिव जी ने पार्वती

जी के पूछने पर तथा विष्णु भगवान् ने लक्ष्मी जी के पूछने पर सुनाया था।

लक्ष्मी जी कहा—"प्राणनाथ ! मैंने आपके श्री मुख से श्री मद्भगवत् गीता के चतुर्थ अध्याय का तो महात्म्य सुन लिया, अब पंचम अध्याय के महात्म्य को और सुनने की इच्छा है। कृपा कर आप मुझे और सुना दें।"

तब भगवान् विष्णु जी कहने लगे—' प्रिये ! अब तुम सावधान होकर गीता के पांचवे अध्याय का माहात्म्य श्रवण करो। मद्रदेश में प्राचीन काल में पुरुकुत्सपुर नामक एक समृद्धशाली नगर था। उसमें पिङ्गल नाम का एक कुलीन ब्राह्मण रहता था। उसका कुल परम पवित्र था, उसके पूर्वज प्रख्यात विद्वान वेदपाठी तथा विख्यात वंश के थे। उसके कुल में कोई सदाचार हीन पुरुष नहीं हुआ था, जिससे उसका वंश परम पावन तथा निष्कलंक माना जाता था। ऐसे कुलीन पावन कुल में यही एक पिंगल दुराचारी तथा पतित पैदा हुआ। इसने कुलागत वेद-शास्त्रों के स्वाध्याय आदि सत्कर्मों का परित्याग करके नाचने गाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वह भाँति-भाँति के नृत्य दिखाकर तथा बाजे बजाकर विषयी लोगों का मन विनोद करने लगा। उसने वेश्याओं जैसी वृत्ति अपना ली। नृत्य, गीत तथा विविध वाद्यों में उसने परिश्रम करके बहुत ख्याति प्राप्त करली। कामी स्त्री-पुरुष उसका आदर करने लगे। यह भी उन्हें रिझाने में अपनी कलाकारी का पूरा प्रदर्शन करने लगा।

राज दरबारों में तो नट, भट, चुगलखोर, लंपट, तथा नाचने

गाने बजाने वालों का आदर होता ही इसका भी प्रवेश राज-भवन में हो गया। वह राजा को अपनी कलाओं द्वारा रिझाता और उससे पारितोषिक पाता। द्रव्य के द्वारा उसने खोटे स्वभाव की स्वैरिणी स्त्रियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया और वह पूरी तरह से कामिनी लंपट बन गया। राजा का प्रियपात्र बनने के लिये वह एकान्त में राजा से दूसरों की बुराई करने लगा। कभी किसी की बुराई करता, कभी किसी से रुपये ठगता।

पिङ्गल ने एक स्त्री को भी रख रखा था। उसका नाम अरुणा था, वह पर पुरुषों से प्रेम करने वाली बड़ी कुटिला थी, उसका जन्म नीच कुल में हुआ था। देखने में वह सुन्दरी थी, किन्तु उसका हृदय अत्यन्त कलुषित था। वह अपने पति की अपेक्षा पर पुरुषों से अत्यधिक प्रेम करती थी। उसके एक प्रेमी ने उससे कहा—"देखो, हमारे तुम्हारे प्रेम के बीच में यह पिंगल ही एक महान् कंटक है। इसे किसी प्रकार मृत्यु के घाट उतारो। जब यह न रहेगा, तो हम दोनों आनन्द के साथ समय यापन करेंगे।"

उसकी बात मानकर एक दिन आधी रात्रि के समय पिंगल की स्त्री अरुणा ने अपने पति को घर के भीतर बन्द करके उसका सिर धड़ से काट लिया और अपने प्रेमी की सहायता से उसके मृतक शरीर को भूमि में गड़वा दिया। वह पापी मरकर यमराज के यहाँ पहुँचा। यमराज ने उसके पापों के अनुसार उसे नाना नरकों की यातनाओं में पचाया। जब कुछ पाप शेष रह गये तब एक घोर वन में उसे गिद्ध की योनि में डाल दिया। वह गिद्ध बनकर बहुत से पक्षियों की हिंसा करके अपना उदर पोषण किया करता था।

पाप का फल तो अवश्य ही मिलता है। अत्युत्कट पाप पुण्यों का फल तो तीन दिन, तीन सप्ताह तीन महीने तीन पक्ष अथवा तीन वर्ष के अन्दर यहीं मिल जाता है। अपने पति की हत्या करके अरुणा सुखी नहीं हुई। उसके जार प्रेमी तो थोड़े दिनों में उसे छोड़कर चले गये। अब उसे भयंकर भगदर रोग हो गया। कोई उसके पास भी नहीं फटकता था। अत्यन्त कष्ट के साथ उसने अपने रोगी हुए सुन्दर शरीर का परित्याग कर दिया। उसे भी यमालय में नाना यातनायें भोगनी पड़ीं। अन्त में वह भी उसी वन में जिसमें पिंगल गिद्ध बनकर रहता था उसी में शुकी हुई। शुकी बनकर वह इधर-उधर दाना चुगती हुई घूमा करती थी।

एक दिन वह दाना चुगने के निमित्त जंगल में इधर से उधर दाना चुगती हुई फुदक रही थी, कि गृद्ध की दृष्टि इस पर पड़ी। पूर्वजन्म के वैर के कारण उसने इस शुकी पर प्रहार किया। उसे अपने तीक्ष्ण नखों से फाड़ डाला। वह क्षत विक्षत होकर समीप ही एक पानी से भरी हुई मनुष्य की खोपड़ी में जाकर गिर गयी। अभी वह पूरी तरह मरी नहीं थी, अतः गिद्ध पुनः उसकी ओर झपटा इतने में ही दैवयोग से एक व्याधा वहाँ आ पहुँचा, उसने अपने बाणों से उस गिद्ध को मार डाला। वह भी मरकर उसी पानी भरी खोपड़ी में जाकर गिरा। उस खोपड़ी में शुकी पहिले गिरकर मर चुकी थी, उसी में यह भी गिरकर मर गया। दोनों को यमराज के दूत पाशों में बाँधकर यमलोक ले गये।

ये दोनों अपने पूर्वजन्मों के किये हुए पापों को स्मरण कर करके भयभीत हो रहे थे। पहिले भी ये नरकों की महान्

यातनाओं को भोग चुके थे। ये दोनों यमराज के सम्मुख उपस्थित किये गये।

यमराज ने अपने मुनीम चित्रगुप्त को बुलाकर पूछा—"इनके पाप पुण्यों का लेखा जोखा बताइये।"

चित्रगुप्त ने कहा—"महाराज ! इन दोनों के पापों का तो कुछ ठिकाना नहीं, किन्तु एक बड़ी आश्चर्य जनक बात हो गयी ?"

यमराज ने पूछा—"वह क्या बात हुई ?"

चित्रगुप्त ने कहा—मरते समय ये दोनों ही एक मनुष्य की उस खोपड़ी में गिर गये थे, जिसमें जल भर रहा था। उस खोपडी के जल में इन दोनों ने स्थान कर लिये। उस जल के स्पर्श मात्र से ही इनके समस्त पाप क्षीण हो गये।

यमराज ने कहा—"यह कैसे हुआ ? वह खोपड़ी किसकी थी ?"

चित्रगुप्त ने कहा—"महाराज ! वह खोपडी वट नाम के एक उत्तम ब्रह्मज्ञानी महात्मा की थी। वे महात्मा भगवती भागरथी के तट पर रहकर सदा तपस्या तथा भगवद् भक्ति में तल्लीन बने रहते थे वे बड़े ही शान्त, दान्त, तितिक्षु, तपस्वी, एकान्त सेवी, अहंता-ममता से शून्य तथा परम वैराग्यवान् थे। वे प्राणिमात्र के सुहृद् थे, किसी से भी कभी द्वेष नहीं करते थे तथा प्रतिदिन नियम से श्रीमद्भगवत् गीता के पंचम अध्याय का प्रेमपूर्वक श्रद्धाभक्ति सहित पाठ किया करते थे। गीता के पंचम अध्याय के के निरन्तर पाठ करने से वे सिद्ध हो गये थे। वह खोपड़ी उन्हीं महात्मा वट की थी। वर्षा के कारण उसमें जल भर गया था। उसी जल के स्पर्श से-उसी में स्नान करने से-इनके अनेक जन्मों

के कलमष कट गये। ये निष्पाप बन गये अब आपकी जैसी आज्ञा हो।"

यमराज ने कहा—"अच्छा तो, इन्हें बड़े सत्कार पूर्वक मनोवांछित पुण्य लोकों में पहुँचा दो।"

यह सुनकर वे दोनों परम चकित हुए। यमराज और चित्रगुप्त की वार्ता इन लोगों ने सुनी नहीं थी। ये तो अपने को अपराधी समझकर यमराज के भय से थर-थर काँप रहे थे। जब यमराज ने इन्हें पुण्य लोकों में भेजने की आज्ञा दी, तब तो इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और ये अत्यन्त ही दीन भाव से धर्मराज जी के समीप गये और उनकी चरण वन्दना करके विनीत भाव से पूछने लगे—"ब्रह्मन्! हम दोनों तो जन्म जन्मान्तरों के पापी है। हमने तो अपने जीवन में जघन्य से जघन्य पाप किये हैं, फिर आप हमें पुण्य लोकों में भेजने की आज्ञा कैसे दे रहे हैं। कहीं भूल तो नहीं हुई?"

यह सुनकर धर्मराज ने कहा—"ना भैया भूल कुछ भी नहीं है। तुम्हारे कोई जन्म जन्मान्तरीय पुण्य उदय हो गये, जो तुम मरते समय परम शांत दान्त महामुनि वट की पानी से भरी मृतक खोपड़ी में जा पड़े। वे महात्मा गीता के पंचम अध्याय का नित्य नियम से पाठ किया करते थे। श्री मद्‌भगवत् गीता के पंचम अध्याय का जो पाठ करता है अथवा सुनता ही है और सुनकर उसे एकाग्र चित्त से मनन करता है, वह फिर चाहे पहिले महापापी ही क्यों न रहा हो, निरन्तर के पाठ से उसे सनातन ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उन्ही महर्षि वट के पुण्य प्रभाव से—उन्हीं की खोपड़ी के जल को पाकर तुम दोनों परम पवित्र हो गये हो। अब तुम अपने मनोवांछित लोकों में जाकर आनन्द के साथ दिव्य सुखों का उपभोग करो। श्री मद्‌भगवत् गीता का

पञ्चम अध्याय धन्य है, जिसके पाठक की खोपड़ी के जल से .. हो जाने पर पापी से पापी भी पुण्य लोकों के भागी . जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यह मैंने शिव पार्वती और लक्ष्मी नारायण के सम्वादरूप में गीताजी के पञ्चम अध्याय का माहात्म्य आपको सुनाया। अब आगे (अगले खण्ड में) आपको छटे अध्याय का माहात्म्य सुनाऊँगा।

छप्पय

पूर्व वैर तें गिद्ध शुकी के ऊपर झपट्यो।
तीक्ष्णन खनि तें मारि खोपड़ी जल में पटक्यो॥
व्याधा मार्यो बान गिद्ध मरि गिर्यो ताहि में।
दोऊ ह्वै निष्पाप गये मरि शुभ लोकनि में॥
पञ्चम शुभ अध्याय जो, वट मुनि जपि पावन भये।
मृतक खोपड़ी तासु जल, परसि शुकी खग तरि गये॥

योगयुक्त पुरुष कर्म करने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता

[४]

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ७, ८ श्लोक)

छप्पय

करत-करत शुभ करम शुद्ध इन्द्रिय मन जाको ।
अन्तःकरन विशुद्ध भयो साधन तैं वाको ॥
योगयुक्त वह पुरुष करै करमनि स्वभाव तैं ।
विजितात्मा बनि जाय शुद्ध मनके प्रभाव तैं ॥
सब प्रानिनि परमात्मा, निज आत्मा में जानि कें ।
करम करत त्यागी वही, निज करता नहिँ मानि कें ॥

---

* जो योगयुक्त है, विशुद्धात्मा है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसकी आत्मा सम्पूर्ण भूतों में आत्मभूत हो चुकी है, वह कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता ॥७॥

तत्त्ववित् योगी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास-प्रश्वास लेता हुआ भी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ ॥८॥

जब तक प्राणी को सच्चिदानन्दघन परमात्मा का ज्ञान नहीं होता, जब तक चैतन्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अज्ञानी प्राणी अपने को ही कर्ता मानकर इन देह, इन्द्रिय तथा मन आदि जड़ संघात से किये हुए कार्यों को अपना किया हुआ मानने लगता है। इसी अज्ञान के कारण उसे पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ता है, पुनः-पुनः मरना पड़ता है। जब जड़ पदार्थों को चैतन्य से पृथक् करके चैतन्यघन का स्वरूप बोध हो जाता है, तब जड़ समूह के किये हुए कार्यों में अहंता नष्ट हो जाती है। फिर इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले कामों में उसकी तनिक भी आसक्ति नहीं होती। कर्म होते रहे तो भी ठीक, न हो तो भी ठीक। इन्द्रियों द्वारा स्वभाव सिद्ध कर्म होने पर भी वे कर्म उसके लिये बन्धन का कारण नहीं होते।

जैसा कारण होता है, उसी के अनुरूप कार्य देखने में आता है। मिट्टी कारण है, उससे जो घड़े, सकोरा, कुल्लड़, हंडी आदि वर्तन बनेंगे, सब मृण्मय ही होंगे। ये ही पात्र यदि सुवर्ण से या रजत-चाँदी-से बनाये जायँ, तो आकृति और कार्य क्षमता एक-सी होने पर भी वे सुवर्णमय तथा रजतमय ही कहलायेंगे। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं है।

अनादि काल से संन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा तथा निष्काम भाव से-कर्तव्य बुद्धि से की जाने वाली कर्मनिष्ठा ये दो निष्ठायें परम्परा गत चली आ रही हैं। पूवजन्म में जिन्होंने कर्म त्याग का अनुष्ठान किया है, उन्हें इस जन्म में आरम्भ से ही सभी कर्म काटने को दौडते है। कर्म करने में उनकी रुचि ही नहीं होती। उनके लिये कर्मज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र है। वे तभी तक अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करते हैं जब तक कि वे पूर्णत्याग के अधिकारी न बन जायँ-अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय-अन्तःकरण के

शुद्ध हो जाने पर–त्याग वैराग्य का अधिकार प्राप्त हो जाने पर–वे कर्मों को सर्वथा त्यागकर–दंड, कमण्डलु, कौपीन कंथा धारण करके संन्यासी हो जाते हैं। उनके लिये निष्काम कर्म साधन है ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना साध्य है, किन्तु पूर्वजन्मो के के संस्कार वश जिनका ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने का सहज स्वभाव बन गया है, उनके लिये ज्ञान साधन मात्र है। वे ज्ञान-पूर्वक भगवत् अर्पित भाव से कर्म करते हैं। जब ज्ञान के द्वारा उन्हे पूर्ण भगवद्भक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वे भक्ति के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ निष्काम कर्म–भक्ति-को साध्य माना है वहाँ ज्ञान साधन है। इसलिये वहाँ भक्ति को ही ज्ञानमार्ग से सर्वश्रेष्ठ बताया है—"कर्मयोगो विशिष्य ते" कहा है, और जहाँ निष्काम कर्मयोग या भक्ति को साधन बताया है वहाँ ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा है "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" ज्ञान के समान पवित्र सर्वश्रेष्ठ–दूसरा नहीं है। ज्ञान हो जाने पर न तो कर्म करते ही रहने का आग्रह है, न कर्म त्याग का ही आग्रह है। पूर्वजन्म के संस्कारानुसार ज्ञान होने पर कर्म करते रहो तो भी कोई हानि नहीं। त्याग कर संन्यासी बन जाओ तो भी दोष नहीं, किन्तु गीता का प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म योग या भक्ति ही है। अतः भगवान् अनेक युक्ति से–निष्काम कर्म योग को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा करते है, क्योंकि अर्जुन निष्काम कर्मयोग भक्ति का ही अधिकारी है। उसे ज्ञानपूर्वक ब्रह्मार्पण बुद्धि से जनक आदि राजर्षियों की भाँति निष्काम कर्म योग में ही लगाना है। इसलिये "कर्मण्येव संसिद्धिमास्थितो जनकादयः" कह कहकर जनक जी का आदर्श उपस्थित किया। जनक जी ज्ञानी होने पर भी निष्काम भाव से प्रजा पालन रूप गुरुत्तर कार्यों में लगे रहे। उनके गुरु पंचशिख महामुनि कर्म

त्यागी संन्यासी हो थे, किन्तु उन्होंने न तो उन्हें कर्ममार्ग-वर्ण श्रम धर्मयोग–के अनुसार साधन करने की शिक्षा दी और सांख्य योग–सन्यास धर्म ज्ञानयोग की ही शिक्षा दी। उन्हें तीसरा मार्ग निष्काम कर्मयोग या ब्रह्मार्पण योग का ही उन अधिकारी समझा यह बात स्वयं महाराज जनक ने सुलभा कही है।

सुलभा एक क्षत्रिय वंश में उत्पन्न योगिनी थी। उसका ज राजर्षि प्रधान के वंश में हुआ था। वह बड़ी विदुषी थी। पू जन्मों के संस्कारों के कारण उसकी सहजवृत्ति मोक्ष धर्म में थी पिता उस विदुषा का विवाह करना चाहते थे। सभी पिताओं व स्वाभाविक इच्छा होती है, मेरी पुत्री को योग्यवर मिले, कि जैसी सुलभा विदुषी थी, उसके अनुरूप वर नहीं मिला। ट सुलभा ने विवाह करने का विचार छोड़ कर मोक्ष धर्म की दी- ली। वह संन्यासिनी बन गयी। योगाभ्यास करते-करते वह यो विद्या मे पारंगत हो गयी। वह योग के प्रभाव से यत्र-तत्र स संसार में घूमती रहती थी और साधु संन्यासी महात्माओं सत्संग करती रहती थी। मोक्षमार्ग के ज्ञाता बहुत से त्रिदंड संन्यासियों से उसने महाराजा जनक की बड़ी प्रशंसा सुनी। सभ महात्मा कहते थे, महाराज जनक गृहस्थ में रहते हुए भी–राज्य पाट करते हुए भी हमसे अच्छे हैं। तब सुलभा को स्वाभावि जिज्ञासा हुई कि मै चलकर देखूँ तो सही। राज्यपाट करते हु गृहस्थ में रहते हुए-भी जनक राजा धर्मध्वज संन्यासियों से भ श्रेष्ठ कैसे हैं।

वह योगशक्ति से राजा के यहाँ अत्यंत ही सुन्दर शरी धारण करके राजा के यहाँ गयी। महाराज जनक ने उसका बड़ भारी सत्कार किया। योग प्रभाव से सुलभा ने राजा की बुद्धि

एकात्मता प्राप्त करली। तब सुलभा के पूछने पर राजा ने अपना परिचय दिया—देवि ! मै पराशर गोत्रीय-सन्यास धर्मावलम्बी महात्मा पंचशिख का शिष्य हूँ। कृपा करके स्वतः ही इधर आ गये थे और वर्षा के चार महीने वे मेरे यहाँ रह गये। उन्होंने ही मुझे मोक्ष धर्म का उपदेश दिया है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्ष धर्म सुनाकर यह आज्ञा दी है कि तुम गृहस्थ मे ही रहो राज्य से दूर हटने की आवश्यकता नही। सो, देवि ! मैं संसारी विषयों की आसक्ति से रहित होकर परमपद मे स्थित हूँ।

मेरा मोह दूर हो गया है, मैं समस्त संसर्गो का त्याग कर चुका हूं, इसीलिये गृहस्थ में रहते हुए भी मैंने बुद्धि की परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त करली है। मेरी दाहिनी भुजा पर कोई चन्दन लेपन करे, बाईं भुजा को कोई बसूले से छीले मै दोनों में ही समभाव से रहता हूँ। दोनों क्रिया करने वालो में मैं न राग करता हूँ न द्वेष। मैंने तुम्हारी तरह संन्यासियों का-सा वेष नहीं बनाया है। मेरी ऐसी दृढ़ धारणा है कि काषाय वस्त्र धारण करना, मस्तक मुड़ा लेना, त्रिदण्ड धारण तथा कमण्डलु ले लेना ये सब संन्यास के चिन्ह मात्र हैं, इन्हें देखकर दूसरे लोग समझ जाते हैं ये संन्यासी है, किन्तु केवल इन चिन्हों द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैंने कोई वाह्यचिन्ह धारण नहीं किया है, फिर भी मै आप्तकाम होकर सदा सुख का अनुभव करता हूँ, मेरी दृष्टि में मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण में कोई भी अन्तर नही। मै आसक्ति-रहित होकर राज्यपाट करता हूँ, समस्त राजकाजों को करता रहता हूँ, अतः मेरा अन्य त्रिदंडी संन्यासियो से स्थान विशिष्ट है। "मुक्त सङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः" यही बात भगवान् ने अर्जुन से कही है "तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।" कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट

है। इसी का विस्तार करते हुए भगवान् अर्जुन को बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह जिज्ञासा की, किन सद्गुणों के कारण कर्म करते हुए भी निष्काम कर्मयोगी कर्मों में लिप्त नहीं होता, तो भगवान् कहने लगे—"देखो, भैया अर्जुन! निष्काम कर्मयोगी में पहिला गुण तो यह होना चाहिये कि वह योगयुक्त हो।

अर्जुन ने पूछा—योगयुक्त का अर्थ क्या?

भगवान् ने कहा—योगयुक्त का अर्थ है भक्तिमान् अर्थात् जो भी कर्म करे ब्रह्मार्पण बुद्धि से—भगवान् की सेवा समझकर करे। उनका कोई लौकिक फल न चाहे। निषिद्ध कर्म न करे। भगवान् की सेवा के ही लिये शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों को जो करता है वही योगयुक्त पुरुष है। ऐसा ही पुरुष विशुद्धात्मा कहलाता है।

अर्जुन ने पूछा—विशुद्धात्मा का अर्थ क्या है?

भगवान् ने कहा—यहाँ आत्मा शब्द से अन्तःकरण समझना चाहिये। अर्थात् जिसके अन्तःकरण से तमोगुण रजोगुण निकल गये हों। इन रज तम से मिश्रित सत्त्व भी निकल गया हो। केवल विशुद्ध सत्त्व वाले का नाम ही विशुद्धात्मा है। उसी को विजितात्मा भी कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—विजितात्मा क्या?

भगवान् ने कहा—यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ देह है। जिसने अपनी देह को वश में कर लिया हो, जिसकी देह उसके अधीन हो, स्वयं देह के अधीन न हो। उसी को जितेन्द्रिय भी कहते हैं। अर्थात् देह के साथ जिसने समस्त बाह्य इन्द्रियों को जीत लिया हो। जिसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन हों। वह इन्द्रियों के अधीन न हो। ऐसा सर्वभूतात्म भूतात्मा पुरुष कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—सर्वभूतात्म भूतात्मा किसे कहते है ?

भगवान् ने कहा—हम जो देखते हैं सब पंचभूत निर्मित है। वह जड़ और चैतन्य दो भाँति का है। इसीलिये समस्त स्थावर जंगम, जड़ चेतन्यात्मक जगत को सर्वभूत कहते हैं, और आत्मभूत अपना आपा। ऐसी है आत्मा जिसकी अर्थात् सब भूतों में आत्मवत् भावना करने वाला। सबको आत्मस्वरूप समझने वाला पुरुष करता हुआ भी सदा अकर्ता बना रहता है। वह कुछ करता ही नहीं।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! वह करता क्यों नहीं, वह तो कानों से सुनता है, स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श करता है, घ्राणेन्द्रिय से सूंघता है, रसनेन्द्रिय से रस का अनुभव करता है, खाता-पीता है, पैरों से चलता है, निद्रा लेता है, श्वास-प्रश्वास लेता है, छोड़ता है, वाणी से बोलता है, मलेन्द्रिय से मल विसर्जन करता है, हाथ से ग्रहण करता है, आँखों के पलकों को खोलता है मीचता है। इतने काम करते हुए भी वह अकर्ता कैसे बना रहता है ?

भगवान् ने कहा—"इतने सब कर्म करते हुए भी तत्त्ववित् पुरुष यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस विषय को भगवान् और स्पष्ट रूप से कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

वही मुक्त अरु भलीभाँति तत्वनि कूँ जानें।
जो अपने को तीन काल नहिँ करता मानें॥
देखत देखे नहीं श्रवन करि सुनत नहीं है।
छूवत छूवे नहीं सूँघि सूँघत हु नहीं है॥
खावत हू खावे नहीं, चलत चले न सुपास है।
सोवत हू सोवे नहीं, श्वास लेत निश्वास है॥

कर्मयोगी कमलवत निर्लेप रहता है

[५]

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ९, १० श्लोक)

छप्पय

बोलत बोले नहीं त्याग करि नाहीं त्यागत।
ग्रहन करत नहिँ लेइ, पलक मींजत नहिँ मींजत ॥
खोले नितई पलक किन्तु करता नहिँ माने।
बरति रहीं निज अरथ, इन्द्रियनि ऐसो जाने ॥
इन्द्रिय बरतति ई रहत, निज स्वभाववश नेम में।
करता इनको मैं नहीं, मगन रहे नित प्रेम में ॥

---

* प्रलाप करता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक मारता हुआ और खोलता हुआ भी सोचे कि वास्तव मे इन्द्रियाँ अपना-अपना काम कर रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥९॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके आसक्ति को छोड़कर कर्मों को करता है, वह पापों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे जल से कमल लिप्तायमान नहीं होता ॥१०॥

एक महात्मा थे, वे किसी विषयी के महलों में गये, वहाँ जाकर उन्होंने नाक बन्द कर ली। उस विषयी धनी ने पूछा— "भगवन्! आपने नाक बन्द क्यों कर ली?"

महात्मा ने कहा—भैया, यहाँ मुझे चारों ओर विषयों की गंध आ रही है।

धनी ने कहा—"महाराज! यहाँ तो कहीं गन्ध नहीं है। चारों ओर सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं। सुगन्धित राग राग रागायें मेरी सेविकायें पत्नियाँ घूम रही हैं। सुगन्धित जल का छिड़काव हो रहा है। मुझे तो कहीं गन्ध आती नहीं।

महात्मा ने कहा—"भैया, तुम्हें यहीं रहते-रहते गन्ध सहते-सहते अभ्यास पड़ गया है, इसलिये गन्ध नहीं आती।"

धनी ने पूछा—"अभ्यास से गन्ध कैसे मिट जायगी?"

महात्मा ने कहा—"अच्छा चलो, मैं तुम्हें इस बात को प्रत्यक्ष करता हूँ।" यह कहकर महात्मा उसे चमारों के मुहल्ले में ले गये। जहाँ सैकड़ों चर्मकार चर्म से जूते बनाते थे। सेठ को वहाँ चमड़े की बड़ी दुर्गन्ध आई। उसने नाक बन्द कर ली और महात्मा से कहा—"महाराज, कहाँ दुर्गन्ध में ले आये?"

महात्मा ने कई चर्मकारों से पूछा—"क्यों जी यहाँ दुर्गन्ध आ रही है?"

सबने यही कहा—"महाराज, यहाँ तो किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध नहीं।"

तब महात्मा ने धनी सेठ से कहा—सेठजी! जैसे निरन्तर के अभ्यास से इन चर्मकारों को चर्म की दुर्गन्ध नहीं प्रतीत होती, उसी प्रकार नित्य विषयों में लगे रहने से विषयों में गन्ध नहीं आती। अभ्यास करते-करते आदमी उस बात का ऐसा अभ्यस्त हो जाता है, कि वह उसका सहज कर्म हो जाता है, इन्द्रियों से

संसर्ग होने पर भी उसका भान नहीं होता। बहुत से लोगों की तनिक सी आहट से नींद खुल जाती है, वे ही रेल के समीप रहने लगते है, तो रात्रि में अनेक बार रेल निकल जाती है, उन्हें पता तक नहीं चलता रेल कब निकल गयी।

इसी प्रकार कर्तृ स्वाभिमान शून्य होकर जो काम करते हैं, उन्हें पता ही नहीं रहता हमारे द्वारा कौन-सा कार्य हुआ। सहज स्वभाव से कार्य होते रहते है, उन्हें संकल्प नहीं करना पड़ता। नित्य के अभ्यास से अपनी इन्द्रियों द्वारा ही कौन-सा कार्य हो रहा है इसका भी पता नहीं चलता।

एक प्रसिद्ध महात्मा अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में बता रहे थे, कि वे सब कुछ करते हुए भी अकर्ता ही बने रहते थे, वे एक आश्रम का संचालन करते थे, किन्तु कौन क्या कर रहा है, इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता था उनके आश्रम का एक साधु था, उसे चूरमा खाने की इच्छा हुई। उसने एक माई से कहा—"माई! स्वामी जी को चूरमा खाने की इच्छा है। माई ने तो अपना अहो भाग्य समझा स्वामीजी ने इतनी कृपा की। बहुत सुन्दर चूरमा बनाकर उसने साधु को दे दिया। साधुजी ने ले जाकर उसे खा लिया।

सायंकाल सत्संग में माई आई, उसने आकर स्वामी जी से पूछा—"महाराज! चूरमा कैसा बना था?"

स्वामी जी ने पूछा—"कैसा चूरमा?"

माई ने कहा—"अमुक महात्मा ने मुझसे कहा था, कि स्वामी जी की इच्छा चूरमा खाने की है, मैने उन्हें बनाकर दिया था?"

स्वामी जी ने कहा—"बुलाओ उस साधु को।"

साधुजी को बुलाया गया, स्वामी जी ने पूछा—"तुम इस माई के यहाँ से मेरे नाम से चूरमा लाये थे?"

साधु ने कहा—हाँ, महाराज, लाया था।
स्वामी ने पूछा—"कहाँ गया वह चूरमा ?"
साधु ने कहा—"महाराज, उसे तो मैं खा गया ?"
स्वामी जी पूछा—"क्यों खा गये ? मेरे नाम से क्यों लाये थे ?"

साधु ने कहा—"महाराज, मेरे और आपके नाम में क्या अन्तर। ये सम्पूर्ण सृष्टि ही आपके नाम से खा रही है, तो मैंने चूरमा खा लिया तो क्या बुरा किया ?"

यह सुनकर स्वामी जी हँस पड़े और बोले—"भाई ! बहुत बढ़िया चूरमा बना था।"

उन्ही महात्मा की एक और कथा वे कहते थे—एक दिन एक भगत की लड़की उनके पास बैठी थी। भगत जी भी बैठे थे। स्वामी जी शरीर से कुछ मोटे थे। उनकी अपान वायु निकली। उन्हें पता नहीं अपान वायु निकली। समीप में बैठे भगतजी को डांटने लगे—'तू आता है, लड़की को ले आता है, लड़की यहाँ अपानवायु छोड़ती है।"

यह सुनकर सब लोग हँसने लगे। सब जानते थे स्वामी जी संकल्प रहित ज्ञानी पुरुष हैं।

इसी प्रकार जड़ चेतन का विवेक करते-करते, इस शरीर में कौन-कौन पदार्थ जड़ हैं, कौन चैतन्य हैं, मैं जड़ हूँ या चैतन्य। अपने चैतन्य स्वरूप का बोध होने पर जड़ संहात के कार्यों में कर्तापने का अभिमान रहता ही नहीं। पंचभूत जड़ हैं, इन्द्रियाँ जड़ हैं, अन्तःकरण भी भीतरी इन्द्रियां ही हैं वे भी जड़ ही है। जीव जो चैतन्य है और जड़ के देह के साथ जो इसका सम्बन्ध जुट गया है, इसलिये सब अहंकार के वशीभूत होकर अकर्ता होता हुआ भी अपने को कर्ता मान बैठता है इसीलिये बन्धन में फंस

जाता है, ऐसे ही व्यक्ति के कर्म, बन्धन के कारण होते हैं, वही जब जड समुदाय को पृथक् करके अपने चेतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब इन्द्रियों से कुछ भी कार्य होते रहें, उन्हें वह अपना किया हुआ नहीं मानता। जब उन कर्मों को यही समझता है कि इन्द्रियाँ अपने कार्यों में अर्थों में बरत रही हैं, तो उसके द्वारा किये हुए कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। वह तो संसार मे रहता हुआ भी कर्म करता हुआ भी उनके कर्मों में सदा निर्लेप बना रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की कि निष्काम कर्मयोगी इन्द्रियों के सब व्यापार करता हुआ भी सभी प्रकार के कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त क्यो नहीं होता, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं—यह व्यक्ति शरीर से मन से बुद्धि से और इन्द्रियों मे सदा कर्म करता ही रहता है पाच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मन्द्रिय ऐसे दश इन्द्रियाँ है। इन दश के दश ही कर्म है। नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना इन पांच ज्ञानेन्द्रिय के देखना, सुनना, सूंघना और खाना ये पांच कर्म हैं। पाद, वाणी, पायु, उपस्थ और हाथ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। गति, प्रलाप, मलमूत्र बिन्दुविसर्ग और ग्रहण इनके व्यापार है। ये तो दश इन्द्रियाँ और उनके दश कर्म हुए। पांच प्राण है भीतर उनके श्वास लेना छोड़ना सिकोड़ना आदि व्यापार हैं। नागकूर्मादि पाँच उपप्राण हैं उनका पलक खोलना, पलक गिराना आदि पाँच कर्म हैं। निद्रा लेना आदि अन्तःकरण का कार्य है। परमार्थ तत्त्व को भली भाँति जान लेने वाला योगयुक्त पुरुष इन सब कर्मों को करता हुआ भी सदा अकर्ता ही बना रहता है। वह समझता है ये इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारों में वर्त रही हैं। मैं कर्ता थोड़े हूँ, मैं इन सब व्यापारो से पृथक् हूँ,

में कुछ भी नहीं करता। ऐसा मानने पर–ऐसा दृढ़ संकल्प करने पर–वह निर्लिप्त ही बना रहता है क्योंकि सृष्टि तो संकल्प में ही है। अपने निज विषय सुख को–फल को–इच्छा न हो तो वे कर्म न सुख देते हैं न दुख। मुनीम है, दिन भर अपने स्वामी के कार्यों में व्यस्त रहता है, लाखों रुपये लेता देता है, किन्तु अपने को स्वामी–करने वाला–नहीं मानता। इसीलिये वह हानि लाभ का भागीदार नहीं होता, उसे तो अपने वेतन भर से प्रयोजन है। इसी प्रकार जो अपने शरीर भोग के लिये–इन्द्रियों के सुख के लिये कुछ नहीं करता। फल की इच्छा छोड़कर सब कार्य प्रभु के ही निमित्त करता है। भगवान् की सेवा समझकर ही कर्म करता है। जो करता उसे भगवान् को ही अर्पण कर देता है, ऐसा ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने वाला भगवत् भक्त संसार में रहता हुआ भी–धर्म शास्त्र के विहित यज्ञ, दान तप आदि कर्मों को करता हुआ भी उसी प्रकार उनमें लिप्त नहीं होता, जैसे कमल जल से उत्पन्न हुआ भी–जल में सदा रहता हुआ भी–जल से लिप्त नहीं होता। एक बूँद भी पानी कमल के पत्ते पर डालो, उसे वह सोखेगा नहीं। सदा उससे निर्लेप–पृथक्–हो बना रहेगा। कमल के पत्ते पर पानी की बूँदें मोती की भाँति पृथक् ही दिखाई देंगी। पानी में रहते हुए भी उससे सर्वथा पृथक्। यही दशा निष्काम कर्मयोगी–भक्त–की भी है।

अर्जुन ने कहा—योगी लोग कर्म क्यों करते हैं? फिर एक से ही कर्मों को करने पर–स्वरूपतः एक समान कर्म होने पर–एक के लिये वे ही कर्म बन्धन के कारण होते हैं, दूसरों को वही कर्म मोक्ष के कारण बन जाते हैं, इसमें कारण क्या है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का जो भगवान् उत्तर देंगे उसे मैं आगे आपसे कहूँगा। यह विषय बहुत ही

सूक्ष्म है, अतः इस विषय को आप सावधानी के साथ, दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।

छप्पय

सबरे करमनि करै ब्रह्म में अरपन जोगी।
निश्चय मन में करै नहीं हौं करता भोगी॥
करमनि में आसक्ति त्यागिकें करम करतु है।
नहीं जनम फिर लेइ नहीं वह कबहुँ मरतु है॥
कमल सदा जल में बसै, कबहुँ लिप्त होवै नहीं।
करम करत जोगी सतत, यह निरलेप रहै तहीं॥

कर्मयोगी अनासक्त भाव से चित्तशुद्धि के लिये कर्म करते हैं

[६]

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, ११, १२ श्लो०)

छप्पय

आसक्ती के बिना करम कोई नहिँ होवै।
बिना वेदना कहो कौन जो प्रानी रोवै॥
आत्मशुद्धि के हेतु करमयोगी करमनि कूँ।
सांसारिक फल नहीं करम फल के त्यागनि कूँ॥
तनतैं मनतैं बुद्धितैं, इन्द्रिनितैं केवल करै।
करमनि में आसक्ति तजि, नहीं कर्म बन्धन परै॥

---

* योगीजन तन से, मन से, बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से भी आत्मशुद्धि के लिये, आसक्ति त्यागकर कर्म करते रहते हैं ॥११॥

योगी पुरुष कर्मफल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है। वह जानता है, यह नौ द्वार वाला पुर देह है, इसमें रहता हुआ देही न कुछ करता है, न करवाता ही है ॥१२॥

बन्धन का कारण कर्म नहीं कर्म के फलों में आसक्ति ही है। जो अनासक्त भाव से कर्म करता है, अर्थात् कर्मों के फल के प्रति उसे कोई स्पृहा नहीं, ममता नहीं, तो वह कर्म करने पर भी उसके बन्धन में नहीं बँधता। जिसे कर्म के फलों में आसक्ति है, वह मन से कर्म का फल चाहने के कारण बन्धन में बँध जाता है। एक लड़का है, वह क्रीड़ा कर रहा है, खेल-खेल में उसने आम की गुठली बो दी। खेलने के पश्चात् घर चला गया, भूल भी गया, कल खेत में मैंने गुठली बोई थी, क्योंकि गुठली बोना, उसके फल स्वरूप वृक्ष होना उसके फलों की रक्षा करना, उसके फलों का उपभोग करना यह उसका लक्ष्य ही नहीं था। वह तो खेल रहा था। खेल के पश्चात् क्या होता है इसका उसके मन में कोई विचार ही नहीं। इसलिये उस बीज से उत्पन्न अंकुर, पौधा, वृक्ष, फूल, फल में न उसकी आसक्ति है न स्पृहा है। उसे उस कर्म के फल से न दुःख न सुख, किन्तु जिसकी भूमि में वह लड़का खेल रहा था, उसे अपनी भूमि में आसक्ति थी। वह गुठली अंकुरित होकर पौधा हो गयी। भूमि का स्वामी कहने लगा मेरा वृक्ष है। अब उसकी साज सम्हाल करने लगा। एकदिन दूसरे की बकरी आकर उसके पत्ते चर गयी, वह उससे लड़ पड़ा, लड़ाई हो गयी, चोट लग गयी। लोगों ने बीच-बिचाव कर दिया। अब उसने पौधे के चारों ओर काँटे लगाये, इस आशा से कि इस पर फल लगेंगे तो मैं खाऊँगा। रात्रि दिन उसकी चिंता करता, उसकी रक्षा में व्यग्र रहता। कालान्तर में उस पर फल आये। वह उनकी रक्षा करने लगा। बड़ी-बड़ी आशायें रखने लगा। कुछ फलों का अचार डालूँगा, कुछ को पकाऊँगा। नित्य उन्हें खाऊँगा। एक दिन वह किसी काम से बाहर गया। पास पड़ोस के लड़कों ने जब एकान्त देखा तो फलों पर मन चल ही गया। एकान्त में

खिले हुए फूलों को देखकर, एकान्त में पके हुए फलों को देखकर, एकान्त में पड़े सुवर्ण या सिक्कों को देखकर और अकेली रूप लावण्यवती युवती को देखकर, घोर संयमी साधक को छोड़कर शेष सभी लोगों का मन तो चलायमान हो ही जाता है। यह दूसरी बात है, कि भय की आशंका से उस पर हाथ न डाले। लड़कों में इतना विवेक नहीं होता, लड़कों ने चढ़कर खूब फल तोड़ लिये। इतने में ही वह पेड वाला आ गया। लडके भगने लगे। एक दो को उसने पकड़कर मारा। उनके घर वाले आ गये। दोनों ओर से कहा सुनी हुई फिर लाठी चली। पेड़ वाला घायल हो गया। मर गया। जिस पेड को उसने बोया नहीं, केवल ममता वश मेरा है, मेरा है, कहकर आसक्ति के कारण उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े महान कष्ट उठाना पड़ा। अतः दुःख का कारण कर्म नहीं है, कर्म के फलों के कारण ही आसक्ति होती है, और वह आसक्ति ही दुख का कारण है।

एक कुटी में महात्मा रहते थे। वे विरक्त तथा त्यागी थे। भजन पूजन से जो समय बचता उसमें आमों के वृक्ष लगाते, उन्हें सींचते, पानी देते। उनके पास ही एक दूसरा किसान था, उसने भी आम का बगीचा लगाया। दोनों समान रूप से उनकी रक्षा करते। समान रूप से गोड़ते, समान रूप से एक ही नाले से पानी देते। दोनों में साथ ही फल आ गये। महात्मा का तो नियम था, वे तो वैसे ही मन विनोद को पेड़ लगाते थे, जब उनमें फल आने को होते, तो वे उस बगीचा को छोड़कर चले जाते, दूसरे स्थान पर जाकर इसी प्रकार बगीचा लगाते। इस प्रकार न जाने उन्होंने कितने स्थानों पर कितने बगीचे लगाये, किन्तु उनकी इच्छा न फल खाने की थी, न मेरा नाम हो, इस पुण्य से मुझे स्वर्ग मिले यही इच्छा थी। वे मनोविनोद को समय का सदुपयोग हो

इसलिये वृक्ष लगाते और फल दूसरे लोग खाते थे। इसके विपरीत जिस किसान ने बगीचा लगाया था, फल आने पर उसे रात्रिदिन बगीचा की ही चिन्ता लगी रहती। फलों की रक्षा में व्यग्र रहता, नित्य लोगों से लड़ाई झगड़ा होता, घर परिवार वाले भी उसके शत्रु बन गये। अंत में झगड़ा हुआ मर गया। मर कर आम के फलों का कीड़ा हुआ। बगीचा लगाने का काम दोनों ने समान रूप से किया, श्रम भी समान ही रहा। कार्य भी एकही था, किन्तु एक का फल हुआ दूसरों का सुख और अपनी मन की शांति। किसान का फल हुआ सबसे लड़ाई झगड़ा होना औरों का बुरा बनना और अन्त में दुर्गति प्राप्त करना।

अतः दुःख का कारण आसक्ति है। योगी लोग भी संसारी लोगों की भाँति कर्मों में लगे रहते हैं, किन्तु उनके कर्मों में और संसारी लोगों के कर्मों में अन्तर इतना ही रहता है, कि कर्म योगी का कर्म परोपकार के लिये लोक संग्रह के लिये आत्म शुद्धि के लिये मुक्ति का कारण होता है और संसारी लोगों का वही कर्म लड़ाई झगड़े के लिये अपने उपभोग की नियत से किया जाता है और का परिणाम यह होता है, कि संसारी वन्धन और दृढ़ होता जाता है। कर्म बन्धनों में अधिकाधिक बँधता जाता है। अतः साधक को आसक्ति का त्यागकर केवल अन्तःकरण की शुद्धि के ही निमित्त कर्मों को करते रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने योगियों के कर्म करने का कारण और एक से ही कर्म के फल विपरीत होने का कारण पूछा, तब भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"अर्जुन! यद्यपि कर्मों से बन्धन होता है, किन्तु वे ही कर्म सांसारिक भोगों की इच्छा से रहित होकर निष्काम भाव से किये जायँ, तो वे बन्धन का कारण न होकर उलटे मुक्ति का कारण बन जाते हैं।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! विना कामना के तो कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। किसान खेत को जोतता है, बोता है, पानी देता है निराता है, रक्षा करता है, किस लिये ? इसलिये कि उसे खेत पक जाने पर बीज से सैकड़ो गुना अन्न मिलेगा। जब फल की आशा ही न रहेगी, तो वह खेत में इतना परिश्रम क्यों करेगा। विना प्रयोजन के तो मन्द से मन्द बुद्धि भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। हम भोजन बनाते है, तो इस इच्छा से कि इससे हमारी भूख की निवृत्ति होगी। जब फल की इच्छा ही नहीं, किसी प्रकार की कामना ही नही तब तो कर्मों का आरम्भ ही असंभव है। फिर कर्म योगी कर्म क्यों करता है ?

भगवान् ने कहा—कर्म योगी साधक को संसार के भोगों की कामना नहीं, किन्तु जन्म जन्मान्तरों के कर्म संस्कारों से जो अन्तःकरण में मलिनता आ गयी है, उसी मलिन अन्तःकरण को विशुद्ध बनाने के लिये—अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त ही कर्म करते हैं, क्योंकि विष की ओषधि विष ही है। कर्म जनित मलिनता निष्काम कर्मों द्वारा हीं हो सकती है।

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! कर्मों के साथ 'निष्काम' विशेषण क्यों लगा देते हैं। यों कहिये, कि कर्म जनित मलिनता कर्म करने से ही दूर होगी।

भगवान् ने कहा—"निष्काम विशेषण इसलिये लगाते हैं कि कर्म सकाम भाव से किये गये, तो वे आगे को अपना बीज और बढ़ावेंगे। कर्म करने से पुराने कर्मों का भोग तो भोगा ही जायगा, साथ ही वह सकाम कर्म आगे के लिये क्रियमाण कर्मों को और उत्पन्न करेगा। जैसे बीज बोया तो उस बीज से तो अंकुर उत्पन्न होगा ही, साथ ही वह बीज अन्य बीजों को भी उत्पन्न करेगा। यदि उस बीज़ को भूनकर बोओ तो वह अन्य

बीजों को उत्पन्न करने में सक्षम न होगा। इसलिये निष्काम कर्म बीज को भूनने के समान है। कर्मों में वासना न रखकर कर्मों को करो। तो उन जप, यज्ञ, पूजादि कर्मों से अन्तःकरण तो शुद्ध हो जायगा, किन्तु आगे के लिये क्रियमाण कर्म न बनेंगे। इसलिये फल की आशा छोड़कर केवल इन्द्रियों से, केवल देह से, केवल मन से, तथा केवल बुद्धि से कर्म करते रहने पर कर्म बन्धन के कारण न होंगे।

अर्जुन ने पूछा—केवल देह से, केवल मन से, केवल बुद्धि से तथा केवल इन्द्रियों से कर्म कैसे किया जाता है?"

भगवान् ने कहा—जैसे गंगा स्नान को गये। शरीर से गंगा जी में डुबकी लगाली। और सोच लिया मैंने यह स्नान केवल ईश्वर की प्रीति के निमित्त किया है, तो वास्तव में गंगा स्नान का फल तो स्वर्ग होना चाहिये था, किन्तु ब्रह्मार्पण बुद्धि से करने पर उसका फल अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक प्रभु प्राप्ति या मुक्ति ही होगा। इसी प्रकार केवल मन से कोई शुभ संकल्प किया जाय, केवल बुद्धि से ब्रह्मार्पण भाव से निश्चय किया जाय। केवल कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म अथवा ज्ञानरूप कर्म किया जाय, तो उसका फल यही होगा, कि उस भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म से अन्तःकरण विमल बन जायगा। निर्मल मन से भगवत् साक्षात्कार हो जायगा। संसार बन्धन से मुक्ति मिल जायगी।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म तो एक से ही हैं। करने के साधन भी एक से ही हैं, किन्तु उनके फलों में विषमता क्यों है। उन्हीं कर्मों के करने से एक तो बन्धन में बंध जाता है, दूसरा उन्ही कर्मों से विमुक्त बन जाता है। इसका क्या कारण है?"

भगवान् ने कहा—इसका कारण है सकामता निष्कामता।

कर्म कोई न अच्छे हैं न बुरे। हम अपनी भावना के अनुसार ही उनमें अच्छेपन बुरेपन का आरोप कर लेते है। कर्म एक-सा ही है। किया भी वह एक प्रकार से ही गया है, किन्तु भाव भेद से उसके फल में भेद हो जाता है। एक दूकान पर दो आदमी बैठे दोनों ही व्यापार में एक समान लगे हैं, एक प्रकार कार्य कर रहे हैं, किन्तु लाभ या हानि होने पर एक तो रोता है, दूसरा न रोता है न हंसता है। रोने वाला तो अपने को स्वामी-स्वतंत्रकर्ता मानकर काम करता है। वह तो फल में आसक्त होकर काम करता है, इसलिये वह हर्ष शोक में लिप्त होकर सुख-दुख उठाता है। दूसरा अपने को स्वतन्त्रकर्ता स्वामी नहीं मानता। अपने को स्वामी का सेवक मानता है। अपने को मुनीम कहता है। कर्तव्य समझकर काम वह लगन से करता है, किन्तु लाभ हो, हानि हो दोनों में उसकी बुद्धि सम है उसे अपने नियत वेतन से प्रयोजन। लाभ हानि का सुख-दुख वह भोगेगा, जो उसका स्वामी होगा। एक नाइन है। उसके एक यजमान के घर लड़का मर गया है, तो वह सब स्त्रियों के साथ खूब चिल्ला-चिल्ला कर रोती है। वहाँ से निवटकर दूसरे यजमान के यहाँ बच्चा हुआ है, तो बधाई के हँस हँसकर गीत गाती है, तीसरे यजमान के यहाँ विवाह है, तो खूब नाचती है, स्वाँग बनाती है, दक्षिणा माँगती है। उसके मन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं। उसे तो यजमान के यहाँ अपने कर्तव्यों का पालन मात्र करना है। इसी प्रकार जो ईश्वर के ही निमित्त सब कर्मों को करता है, वह उन कर्मों के सुख-दुख में लिप्त नहीं होता।

कर्मयोगी साधक अपने किये हुए कर्मों से किसी सांसारिक फलों की कामना नहीं रखता, वह कर्मफल को त्यागकर कर्मों को करता हुआ भी नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त करता है। इसके

विपरीत जो कर्मयोगी नहीं, साधक नहीं। अयुक्त है, सकाम भाव से कर्म करने वाला है। फल की इच्छा रखकर कर्मों में प्रवृत होने वाला है, तो वह फलों की अभिलाषा के कारण कर्मों में पहिले से भी अत्यधिक बँध जाता है। दोनों में एक-सा कर्म करने पर भी यही भेद है।

अर्जुन ने पूछा—कर्मयोगी को क्या सोचते हुए कर्मों में प्रवृत होना चाहिये।

सूतजी कहते है—मुनियो! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जो उत्तर दिया उसका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

अनासक्त आसक्त करम दोऊ समान हैं।
किन्तु भाव को भेद भेद फल में महान हैं॥
योगी करमनि करैं नहीं फल तिनिको चाहे।
करै करम आसक्त सकामी सो बँधि जाये॥
दोउनि में अन्तर जिही, करम करैं दोऊ सतत।
एक युक्त है त्यागिफल, करै दूसरो फलहिँ हित॥

आत्मा कर्तृत्व अभिमान से शून्य है

[७]

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, १३, १४ श्लोक)

छप्पय

जाने अन्तःकरन करयो वश में अरजुन सुनि ।
पावैं वह सुख सतत वही योगी ज्ञानी मुनि ॥
मन तैं करमनि त्यागि वही संन्यासी सच्चो ।
ऊपर तैं तजि करम करै मन तैं सो कच्चो ॥
नौ द्वारनि की देह में, अनासक्त दुख-सुख नसै ।
करवावै नहिँ करै कछु, द्वन्द रहित पुर में बसै ॥

---

* जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को मन से त्यागकर सुखपूर्वक रहता है । वह जानता है, यह नौ द्वार वाला पुर है, इसमें रहता हुआ देही न कुछ करता है, न करवाता है ॥१३॥

यह आत्मा प्राणियों के न कर्मों को रचता है, न कर्तापन को और न कर्मफल संयोग को ही बनाता है । यह सब तो स्वभाव से-प्रकृति से-हो रहा है ॥१४॥

हम साधारण लोग विवश होकर–अवश बनकर–कार्यों को करते हैं। सर्वप्रथम तो पूर्व जन्मकृत कर्मों की वासनाओं से आबद्ध होकर हम कर्मों को करते रहते हैं। कोई अहंकार में भरकर यह कहे कि मैं इस काम को तो करूंगा नहीं, इस काम को करूंगा, तो वह मूढ है, कर्म तो स्वभाव से–प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं। हम प्रारब्ध कर्मों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। इन्द्रियां भी हमारे वश में नहीं हैं। जिह्वा भाँति-भाँति के रसों को चखना चाहती है, घ्राण सुगन्धों को सूंघने को उत्सुक है, नेत्र सुन्दर-सुन्दर रूप देखना चाहते हैं। कोई इन्द्रिय अपनी ओर खींचती है, दूसरी अपनी ओर। जैसे किसी व्यक्ति के पांच स्त्रियां हों, पांचों ने उसके लिये पृथक्-पृथक् पदार्थ बनाये हो। वह ज्यों ही आंगन में आया, कि एक ने उसका पल्ला पकड़ लिया मेरे घर चलो आज तुम्हें मेरे घर ही भोजन करना पड़ेगा। दूसरी ने उसका हाथ पकड़ लिया। वहाँ कैसे जाओगे, मेरे घर कढ़ी बनी है, वहां चलना पड़ेगा। तीसरी ने उसकी चुटिया पकड़ ली वाह जी! अच्छे रहो, कल आपने मेरे घर आने का वचन दिया था, मेरे यहाँ चलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार पाँचों उसे अपनी-अपनी ओर खींचती हैं। वह विवश बना उस खींचातानी में अपनी फजीहत करा रहा है।

मन अपना पृथक् ही आकाश में किला बना रहा है, मन अन्य कार्यों को करने को विवश कर रहा है। इस प्रकार जिसने अपनी इन्द्रियों को, अन्तःकरण को वश में नहीं कर लिया है, ऐसा अवशी पुरुष अपने को कर्ता मानकर भाँति-भाँति की यातनाओं को भोगता रहता है। कभी किसी के मन की कर देता है, कभी किसी के प्रतिकूल कर देता है। वह भी बेचारा क्या करे वह भी अवश है, विवशता वश उसे ऐसा करना पड़ता है। इसीलिये नानायोनियों में घूमता हुआ भाँति-भाँति के क्लेश उठाता रहता है।

इसके विपरीत जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि आत्मा तो अकर्ता है, असंग है, निर्लेप है। ये जो कार्य हो रहे है, ये सब प्रकृति की प्रेरणा से अपने आप हो रहे है। मैं इन्द्रियों के अधीन नहीं, किन्तु ये इन्द्रियाँ ही मेरे अधीन है, मैं अन्तःकरण के वशीभूत नहीं, किन्तु मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार मेरे ही अधीन हैं, इन सबको मैं वश में रखूंगा। कर्म इन्द्रियों से होते है, तो होते रहें। उनके दुःख सुख का मैं भोक्ता नहीं, तो इन्द्रियों और देह के द्वारा किये हुए कर्मों का आत्मा फलभोक्ता नहीं होता। जैसे कोई कारखाना है, उसमें सैकड़ों आदमी काम कर रहे है, अपने-अपने कामों में सब तत्पर हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपने को उस कारखाने का स्वामी समझता है, तब तक हानि लाभ सुख-दुख दोनों का भागी वह स्वामी ही होता है। कारखाना तो चल ही रहा है, कर्मचारी कार्य कर रहें है; किन्तु हानि होने पर अपने को स्वामी समझने वाले को ही दुख होता है, जब कारखाने का स्वामी अपना स्वामित्व त्याग देता है। समस्त अधिकार कर्मचारियों को ही सौंप देता है, वास्तव में वे ही वस्तुओं के उत्पादक है, तो कारखाना तो पूर्ववत् ही चलता है, उत्पादन भी पहिले के ही भाँति होता है, किन्तु वह स्वामी अब सुख से सोता है, उसे कोई चिन्ता नहीं। हानि लाभ का सुख-दुख कर्मचारियों के संघ को ही होता है। काम सब होते हुए भी वह न अपने को करने वाला मानता है, न कराने वाला। वह काम भी जैसे पहिले करता था, वैसे ही करता भी है, कार्यालय में जैसे पहिले बैठता था वैसे ही बैठता है, कर्मचारियों के प्रश्नों का उत्तर भी वह जैसे पहिले देता था, वैसे देता है। उसने शरीर से कर्म छोड़े नहीं हैं, किन्तु मन से उसने कर्तृत्वाभिमान को हटा दिया है। इसी प्रकार कर्मयोगी उसी

प्रकार कर्म करता रहता है, जैसे ज्ञान न होने के पूर्व आसक्ति सहित काम किया करता था, अथवा अन्यकर्मासक्त मनुष्य जैसे कार्य करते है। अब जब उसे ज्ञान हो गया है, कि मै कर्ता नहीं, कर्म तो गुणों के संहात से प्रकृति द्वारा होते रहते हैं, तो वह सब कर्मों का मन से त्यागकर देता है। अब उसे न कर्म करने का आग्रह है न कर्म त्यागने का ही आग्रह है। शरीर से कर्म हो रहे है। वह मन से अपने को करने कराने वाला न मानकर साक्षीरूप से सब कर्मों को होते हुए देख रहा है। जैसे कारखाने के नौ दरवाजे हैं, किसी दरवाजे से सामान आ रहा है, किसी से निकल रहा है। नौ दरवाजे खुले हुए हैं। समय पर कोई दरवाजा बन्द हो जाता है, कोई आठो प्रहर खुला ही रहता है। ज्ञानी पुरुष सामान आ जायें तो उसे हर्ष नहीं, निकल जाय तो उसे विशाद नहीं। वह इन्द्रियों की बाहर भीतर के कर्मचारियों को अपने शासन में रखता हुआ भी अपने को अकर्ता ही अनुभव करता है। इस शरीर रूपी कारखाने में ९ दरवाजे हैं। दो आँख के द्वार, दो नाक के दो कान के। ६ हुए एक मुख का और दो नीचे के मल और मूत्र के। मुख मे कच्चा माल भीतर जाता है। नाक के द्वारों से श्वास प्रश्वास आती जाती है। नेत्रों से प्रकाश निकलता है, कान से शब्द भीतर जाता है। मूत्रेन्द्रिय से मूत्र तथा वीर्य निकलता है, मल द्वार से मल बाहर आता है। वायु जाने के बहुत से छोटे-छोटे झरोखे-रोमकूप हैं, इनसे स्वेद--पसीना--आदि निकलता है। अज्ञानी तो इन कर्मों को अपना किया हुआ मानता है, अतः दुःख उठाता है। ज्ञानी समझता है, ये द्वार तो खुले हुए हैं, समय पर सामान भीतर चला जाता है, समय से अपने आप उदर के यन्त्रों से पक-पककर अपने-अपने स्थानों में बँट जाता है, फालतू निकल जाता है, इसमें मेरा अपना कर्तृत्व क्या है। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने

पर वह सुख का अनुभव करता है। अपने को कर्ता मानने में ही दुख है और अकर्ता मानने में ही परमानन्द है। इन्द्रियों के वशीभूत होने में ही दुख है और इन्द्रियों का निग्रह करके उन्हें अपने वश में करके रहना यही साधक का लक्ष्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कर्मयोगी को क्या सोचते हुए कर्म करते रहना चाहिये, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! शारीरिक कर्म तो किसी से छूटते ही नहीं। आंख जब तक है, तब तक देखोगे ही, कान जब तक हैं, तब तक सुनोगे ही, नाक जब तक है तब तक श्वास प्रश्वास लोगे ही, मुख जब तक है, तब तक बोलोगे ही, कुछ न कुछ भोजन करोगे ही। मलमूत्र द्वार जब तक है, तब तक किसी भी समय मल मूत्र विसर्जन करोगे ही, इसीलिये शारीरिक कर्म न कभी छूटते हैं हैं न उन्हें छोड़ना ही चाहिये। हां मन में जो कर्तापने का अभिमान है, उसे त्यागकर उस कर्तापने से संन्यास लेकर इन्द्रियजित ज्ञानी पुरुष केवल इन्द्रियों द्वारा कर्मों को करता रहे और मन में यह सोच ले कि यह जो शरीर है, यह ६ द्वार वाली एक धर्मशाला है, इसमें मैं सदा के लिये नहीं, कुछ काल के लिये आकर ठहर गया हूं। इसकी स्वच्छता तो मुझे रखनी ही होगी, झाड़ू बुहारू तो देनी ही पड़ेगी। मैं मैं इस धर्मशाला का न बनाने वाला हूं न स्वामी हूँ, मैं तो पथिक हूँ, संयोग से आकर इसमें ठहर गया हूं। न मैं कर्ता हूं, न कराने वाला हूं। ऐसा सोचकर जो धर्मशाला को स्वच्छ बनाकर रहेगा, वह सुखी रहेगा। जो उसमें व्यर्थ में कर्तापने का झूठा अभिमान कर लेगा, उसे चिन्ता, दुख ग्लानि, वेदना आदि उठानी पड़ेगी।

अर्जुन ने पूछा—इस शरीर रूपी धर्मशाला में रहते हुए क्या

सोचे ? नौकर-चाकर जो पूछकर या बिना पूछे काम कर रहे हैं, उनके साथ कैसा वर्ताव करे ?"

भगवान् ने कहा—"यही सोचता रहे, कि यह जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, यह न कर्मों को करता है, न इसमें कर्तापन ही है। जब कर्मों की रचना ही नहीं करता तो फिर कर्मों के फलों के भोग का तो प्रश्न ही नहीं, क्योंकि फल का भोक्ता तो कर्ता ही होता है। आत्मा अकर्ता है, अभोक्ता है।"

अर्जुन ने पूछा—"तो फिर ये जो संसार में देहादि निरन्तर कर्म होते रहते है, इन्हें कौन करता है।"

भगवान् ने कहा—ये तो त्रिगुणों के संघात से प्रकृति द्वारा ही कर्म हो रहे हैं। अहंकार वश ही प्राणी अपने को कर्ता मान बैठता है स्वभाव से सब कर्म हो रहे हैं। जगत् का व्यापार चलते रहना यही स्वभाव है इसी को प्रकृति कह लीजिये। शरीर रूपी धर्मशाला में रहते हुए यही समझे कि यहाँ के सब काम नियम से हो रहे हैं। समयानुसार हाँ ना कह दिया करे। जो हो रहा है उसे साक्षी रूप से देखता रहे।

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! जब आत्मा कर्ता नहीं, तो जीव मोह में क्यों फँस जाता है, क्यों नाना योनियों में भटकता फिरता है ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के ऐसा प्रश्न करने पर जगदाधार सच्चिदानन्द आनन्दघन स्वरूप परमात्मा प्रभु श्री कृष्णचन्द्र जी हँसे और फिर अर्जुन को जो कुछ इसका उत्तर दिया उसे मैं आपसे आगे कहूँगा। आप इस पावन प्रसंग को दत्तचित्त से श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

करता ईश्वर नहीं रहै निरद्वन्द्व निरालो।
सदा रहे निरलेप निरंजन नित्य बिचारो॥
करतापन नहिँ करै बनावै करता नाहीं।
करमनि कूँ नहिँ करै फँसै नहिँ करमनि माहीं॥
नहीं करै संयोग फल, करमनि को जो बनि गयो।
सब स्वभाव आधीन है, सब स्वभावतैं है रह्यो॥

अज्ञान से ज्ञान ढक गया है इसी से प्राणियों को मोह हो गया है

[८]

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ० १५, १६ श्लोक)

छप्पय

विभु विश्वंभर ब्रह्म जगत में व्यापि रह्यो है ।
कहें पुरान महान वेद हू गाइ रह्यो है ॥
पुण्य करम नहिँ लेइँ न उनकूँ प्रभु स्वीकारें ।
ग्रहन पाप नहिँ करें न पापिनि जगत् निकारें ॥
ज्ञान ढक्यो अज्ञान ने, चकाचौंध सबई भये ।
मोहित अज्ञानी भये, बौरे मूरख बनि गये ॥

---

* वह विभु परमात्मा न तो किसी के पाप को न किसी के सुकृत को ग्रहण करता है। अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढक गया है इसी से जीव मोहित हो जाते हैं ॥१५॥

किन्तु जिनके मन का अज्ञान, ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान उस परब्रह्म को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे उदय होने पर सूर्य सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है ॥१६॥

शास्त्रों में कौन कर्म करता है, कौन कराता है, इस विषय में भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये गये है। कोई कहते—' सुख-दुख देने वाला कोई दूसरा नहीं। अपना आपा ही अपना मित्र है, अपनी आत्मा ही शत्रु है। "जैसी करनी वैसी भरनी।" कोई कहते है—सब प्रारब्ध के अधीन है। प्रारब्ध के अनुसार जैसा सुख-दुख होने वाला होता है, वैसे ही सब साधन उपस्थित हो जाते हैं। भवितव्यता के आगे किसी का चारा नहीं। जैसा होने वाला होता है, मनुष्य हठपूर्वक-इच्छा न रहने पर भी प्रारब्ध वश वहाँ पहुँचकर किसी अव्यक्त प्रेरणा से कार्य करने लगता है।"

कोई कहते हैं—सब कुछ स्वभाव से ही हो रहा है, जिसकी जैसी प्रकृति होती है—जैसा स्वभाव होता है-उसी के अनुसार अपने आप स्वभावानुकूल कार्य में प्रवृत्त होता है, जब लोग कर्मों के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। गोप प्रतिवर्ष वर्षा के पश्चात् कार्तिक की पूर्णिमा को इन्द्रयाग किया करते थे, उनका विश्वास था कि मेघों का स्वामी इन्द्र है, यदि इन्द्रकी पूजा करेंगे, तो इन्द्र प्रसन्न होकर अच्छी वर्षा करेगा। जिससे घास तथा अन्न होगा, नदी तालाबों में जल भर जायगा। अन्न को मनुष्य खायेंगे। तृण घास से गौओं का पेट भरेगा, पानी से सबका जीवन निर्वाह होगा। सदा से इन्द्र को ही पानी दाता मानकर गोप उन्हें पूजते थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जो भी कारण रहा हो इन्द्र की पूजा बन्द करा दी। उन्होंने गोपों को कर्मवाद का उपदेश दिया। अपने बाबानन्दजी से भगवान् ने कहा—"बाबा तुम क्या इन्द्र की पूजा करते हो, इन्द्र पानी कहाँ से लावेगा। इन्द्र जीवन देने वाला कौन होता है, प्राणी तो अपने कर्म के अनुसार ही उत्पन्न होता है और कर्म के अनुसार ही मर जाता है। सुख, दुख भय, शोक,

मंगल तथा अमंगल सब कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। मान लो कोई इन्द्र आदि ईश्वर है भी तो वह भी तो कर्मानुसार ही फल देगा। यह थोड़ा ही है कि वह अपनी इच्छा से जिसे जितना चाहे उतना दे दे, यदि वह ऐसी मनमानी घर जानी करता है, तो उसमें विषमता का दोष आ जायगा। उनका ईश्वरपना समाप्त हो जायगा। इसलिये ईश्वर भी कर्मानुसार ही फल देता है। जो कर्म नहीं करते, उनकी सहायता ईश्वर भी नहीं करता। जब सब कर्मानुसार ही हो रहे हैं, तो हमें बेचारे इन्द्र से क्या लेना देना। वे हमारे पूर्वजन्मकृत संसार-प्रारब्ध-को तो बदल ही नहीं सकते। सब कर्मानुसार स्वभाव में-अपनी प्रकृति में-वर्त रहे हैं। कर्मानुसार ही किसी से शत्रुवत् किसी से मित्रवत किसी से उदासीनवत् व्यवहार प्राणी करते हैं। इसलिये कर्म ही प्रधान है। उसे ही चाहे गुरु कहो उसी को ईश्वर कह लो।

नन्दजी ने पूछा—"तब हमें करना क्या चाहिये ? पूजा किसकी करनी चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। जिस वर्ण की जिस कर्म द्वारा आजीविका चलती है, उस वर्ण वालों को उसी की पूजा करनी चाहिये। जैसे ब्राह्मणों को वेद की पूजा करनी चाहिये उसी के अध्ययन-अध्यापन रूप कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। क्षत्रिय को पृथ्वी की पूजा करनी चाहिये उसी का पालन पोषण संरक्षण करना चाहिये। वैश्यों की व्यापार वाणिज्य से आजीविका चलती है उन्हें लक्ष्मी का पूजन करना चाहिये। शूद्रों की सेवा से आजीविका चलती है उन्हें चातुर्वर्ण्य की सेवा रूप पूजा करनी चाहिये। वैश्यों की चार वृत्तियाँ है, खेती, व्यापार, गोरक्षा और व्याज। हम

केवल गोरक्षा ही करते हैं। शेष तीन काम अन्य वैश्य करते हैं। हमारी गौओं को घास, पानी, ईंधन, लकड़ी, फल फूल सब यह गिरिराज गोवर्धन देता है इसलिये इस गोवर्धन पर्वत को ही हम सबको मिलकर पूजा करनी चाहिये।"

यह भगवान् ने निष्काम कर्मयोग न बनाकर केवल वर्णाश्रम धर्मानुसार कर्मयोग की ही शिक्षा दी। कर्म को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया।

कहीं-कहीं कहा गया है—"सब कर्मों का कराने वाला ईश्वर ही है। ईश्वर जैसा कराना चाहता है, जीव वैसा ही कर्म करता है। जिसे ईश्वर ऊर्ध्वगति देना चाहता है–ऊपर ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म कराता है। जिसे वह नीचे ले जाना चाहता है उससे अशुभ कर्म कराता है। यह जीव अपने सुख-दुख के भोग में अस्वतन्त्र है। यह अज्ञानी जीव ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है।" यहाँ पर सब कर्तृत्व ईश्वर के ही मत्थे मढ़ दिया है। फिर तो जीव का कोई कर्तव्य ही नहीं रह जाता, किन्तु भगवान् ने आगे गीता में ही कहा है—"यद्यपि जीव हृदिस्थ ईश्वर की ही प्रेरणा से कार्य करता है, किन्तु फिर भी जीव में भक्ति करने की–शरण में जाने की–अपनी निजी इच्छा भी है इसलिये परमशान्ति की इच्छा वाले जीवों को भगवान् की ही शरण में जाना चाहिये। शरणागति से ही परमशान्ति संभव है, किन्तु यहाँ भगवान् एक दूसरी बात कहते हैं। जीव अज्ञान के कारण–माया के वशीभूत होकर–अविद्या के कारण–मोह को प्राप्त होता है। अतः अज्ञान को नाश कर दो ज्ञान स्वतः प्रकाशित हो जायगा। ज्ञान के आलोक में तुम्हें कौन वस्तु कहाँ पर है, अपने आप दिखायी देने लग जायगा।

बगीचे में फूल खिल रहे हैं, वे नाना रंगों के हैं, किन्तु वहाँ

अन्धकार है । इसमें सब वस्तुएं दिखायीं नहीं देती । एक काली-सी धुन्ध ही धुन्ध दृष्टिगोचर हो रही है । जहां उस स्थान पर सूर्य का, चन्द्रमा का या अग्नि का प्रकाश फैल गया तो सब फूलों के रंग स्पष्ट दिखायी देने लगेंगे । कौन ग्रहण करने योग्य है कौन त्याज्य है, यह प्रकाश फैलने पर ही देखा जा सकता है । अतः बोध के लिये-आत्मज्ञान के लिये-मोहरूपी अज्ञान के नाश के लिये ज्ञानियों-गुरुओं-आचार्यों की शरण में जाना चाहिये । मुख्य कार्य है अज्ञान का नाश । गौ के गोबर के बने कंडे में अग्नि व्याप्त है, किन्तु उसके ऊपर राख जम गयी है, अग्नि दिखायी नहीं देती । तुमको न दीखने वाली अग्नि को प्रकाशित करने के लिये दूसरे स्थान से अग्नि लाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । उस राख को झाड़ दो, उसमें से स्वतः अग्नि-अपने आप-चमकने लगेगी ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने पूछा कि कर्मों में जीव को कौन प्रवृत्त कराता है । तब इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—अर्जुन ! वास्तविक बात तो यह है, ईश्वर को क्या पड़ी है, कि एक से पाप करावे, दूसरे से पुण्य करावे एक को ऊर्ध्वगति दे, दूसरे को अधोगति प्रदान करावे । बहुत से जीव पाप करते हैं, बहुत से जीव पुण्य कर्म करते है । भगवान् न तो पाप वालों का पाप लेते है, न पुण्य वालों के पुण्य को ही ग्रहण करते हैं ।

अर्जुन ने पूछा—"फिर इस जीव को मोह ही कैसे गया ? यह मोह में पड़कर ऐसे-ऐसे कर्मों को करता क्यों है ?"

भगवान् ने कहा—अर्जुन ! जीव में ज्ञान की ज्योति स्वाभाविक है । तुम चींटी को भी दबाओ तो, अपनी रक्षा के लिये तुम्हें काट लेगी । प्राणिमात्र को भले-बुरे को कुछ न कुछ ज्ञान रहता

ही है। ज्ञान और अज्ञान का जोड़ा है। जीव का जो स्वाभाविक ज्ञान है, वह अज्ञान से ढक जाता है। बस, अज्ञान से ढक जाने से ही जीव मोह में पड़कर अंट-सट काम करने लगता है।

अर्जुन ने पूछा—"इस अज्ञान का निवारण कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—बस, इसी का नाम तो साधन है। इसी को तो पुरुष का अर्थ अर्थात् पुरुषार्थ कहते है। आत्मज्ञान की इच्छा वाले का ही नाम जिज्ञासु है। जीव चार प्रकार के होतेहै। १-नित्य २-मुक्त ३-बद्ध और ४-मुमुक्षु। शास्त्र के उपदेश नित्य जीवों के लिये नहीं हैं मुक्त तो फिर मुक्त ही ठहरे। बद्ध जीवों के लिये भी शास्त्र के उपदेश नही। वे तो बद्ध हैं ही। समस्त उपदेश, समस्त साधन मुमुक्षु जीवों के ही निमित्त,हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को अज्ञान के हटाने का प्रबल प्रयत्न करते रहना चाहिये। आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश अपने आप हो जायगा। चारों ओर अंधकार व्याप्त है आप जलती हुई मसाल लेकर आओ, तो आपको डंडा मारकर अन्धकार को भगाना नहीं पड़ेगा। अन्धकार वहाँ का वहीं अपने आप-स्वतः ही नष्ट हो जायगा। आप मसाल लेकर कोने-कोने में खोजो, तुम्हें कही भी छिपा हुआ अंधकार दिखायी न देगा। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने पर अज्ञान का लोप अपने आप ही जायगा। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष के सम्मुख यह ज्ञान सूर्य के समान आत्मतत्त्व को प्रकाशित कर देगा। उसे अपने स्वरूप का स्वतः ही बोध हो जायगा।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! हम कैसे जाने इसे आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है। उनको वृत्ति कैसी हो जाती है, उन आत्मज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में हमें बताने की कृपा करें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने जब आत्मज्ञानी पुरुष

के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने जैसे आत्मज्ञानी के लक्षण बताये उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जिनिको यह अज्ञान आतमा तत्त्व ज्ञान तैं।
है जावे जब नष्ट दूर हो मोह मान तैं॥
है अज्ञान अनादि सिद्ध तिहि ज्ञान भगावै।
है प्रबोध ततकाल नहीं मोहित कहलावै॥
ज्ञान-सूर्य जब उदित है, तम अज्ञान मिटाइकें।
बोध यथार्थ कराइकें, सब कछु देइ दिखाइकें॥

समदर्शी का ही नाम पंडित है

[६]

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिना ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ०, १७, १८ श्लो०)

छप्पय

आत्माई सरवस्व सदा ज्ञानी मानै यह।
मन कूँ करि तदरूप आतमा में राखै यह॥
करै बुद्धि तदरूप नहीं कछु अन्य विचारै।
है. यावै तन्निष्ठ एक ही ब्रह्म निहारै॥
ऐसे ज्ञानी पुरुष जो, ब्रह्म परायन अघ रहित।
निश्चय पावैं परमपद, संतचित आनँद होहिं रत॥

---

* जिनकी बुद्धि ब्रह्ममय है, जिनका मन तद्रूप है, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, जो तत्परायण हैं, जिन्होंने ज्ञान द्वारा पापों को धो डाला है, ऐसे पुरुष परमगति को प्राप्त होते हैं ॥१७॥

समदर्शी पंडित वही है, जो विद्या विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, हाथी में, कुत्ते में, और कुत्ता खाने वाले श्वपच में एक दृष्टि रखता है ॥१८॥

यह संसार वास्तव में बाँधने वाला नहीं। बन्धन का कारण तो अपना मन है। अपने मन की वृत्ति जैसे स्थान पर लगेगी। मन वैसा ही हो जायगा। मन तो स्वच्छ वस्त्र के सदृश है, उसे जैसे रंग में रंग दोगे वह वैसे ही रंग का दीखने लगेगा। संसार में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पांच तन्मात्रायें हैं। एक-एक तन्मात्रा एक-एक इन्द्रिय का विषय है। जैसे शब्द है, यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, रूप है, चक्षु इन्द्रिय का विषय है। रस है, रसना इन्द्रिय का विषय है, गन्ध है, घ्राणेन्द्रिय का विषय है। स्पर्श है, यह त्वक् इन्द्रिय का विषय है। संसार विषय वासना युक्त है भगवान् विषय वासनाओं से रहित हैं। मन की वृत्तियाँ यदि संसारी विषयों में आसक्त रहेंगी, तो मन संसारमय हो जायगा। बारम्बार संसार में जन्म लेता रहेगा, मरता रहेगा।

आत्मा शब्द के अनेक अर्थ हैं। शरीर का भी नाम आत्मा है, अन्तःकरण को भी आत्मा कहते हैं और परमात्मा का बोध भी आत्मा शब्द से होता है, यदि देह में आत्मबुद्धि हो गयी है, तो ऐसे देहात्म बुद्धि वाले व्यक्ति को बारम्बार देह ग्रहण करना पड़ेगा, उसे अन्तःकरण चतुष्टय वाले शरीर में बार-बार आना पड़ेगा।

जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसके मन की स्थिति भी उसी में सदा स्थित रहती है। एक आदमी था, वह अनाज तोलने का काम करता था, स्वप्न में भी वह एकाराम दोईराम, तीनहीराम, चार ही राम! ऐसे गिनती गिना करता था, क्योंकि उसे गिनने का अभ्यास था, सोते समय उसकी स्थिति उसी में बनी रहती थी। इसलिये संसार में आसक्त पुरुषों की स्थिति भी संसार में ही सदा बनी रहती है और वे सदा नाना योनियों में इस संसार में आते जाते रहते हैं। संसारी लोगों की

जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है उस वस्तु को प्राप्त करने का वे सतत प्रयत्न करते रहते हैं। अपनी प्राप्तव्य वस्तु के चिन्तन में वे तदाकार हो जाते हैं। कामी की प्राप्तव्य वस्तु अपने मनोनुकूल कामिनी है; पुत्रार्थी की प्राप्तव्य वस्तु पुत्र है, धनार्थी की प्राप्तव्य वस्तु धन है। यशार्थी की प्राप्तव्य वस्तु यश है। अतः कामिनी, पुत्र, धन और यश ये सब संसारी वस्तुएँ हैं, जिनका मन इन संसारी वस्तुओं में फँस गया; तो उनका संसार बंधन कभी समाप्त नहीं होता। बारबार ये वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं, बारबार इनका वियोग होता रहता है, फिर उन वस्तुओं की प्राप्तिका प्रयत्न करता रहता है। इसका नाम संसृति है। बारम्बार संसार में आना जाना, जन्म लेना तथा मरना है। ये संसार चक्र अज्ञान के कारण अज्ञानी पुरुषों को ही होता है, किंतु जिन्होंने ज्ञान की तीक्ष्णधारा से अज्ञान का नाश कर दिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषों को संसार बंधन नहीं होता, क्योंकि उनके अन्तःकरण की वृत्ति संसार में न लग कर परमात्मा में ही लगी रहती है। वे आत्मा शब्द से शरीर तथा अंतःकरण को ग्रहण न करके परमात्मा को ही आत्मा समझते हैं। उनकी स्थिति संसारी विषयों में न रहकर परमात्मा में ही बनी रहती है। उनकी प्राप्तव्य वस्तु संसारी भोग न होकर एक मात्र परमात्मा ही होते हैं। उनके मन में किसी प्रकार का कल्मष, मल, पाप, उपद्रव अथवा अघ नहीं होता। वे निष्पाप यतिजन चरम शरीर वाले होते हैं, अर्थात् यह उनका अन्तिम शरीर होता है। इस शरीर के त्यागने के अनंतर वे फिर शरीर धारण नहीं करते। ज्ञान हो जाने पर प्रारब्धवश जब तक उनका शरीर रहता है, तब तक वे छोटे बड़े ऊँच नीच सभी प्राणियों में उसी परमात्मा का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि परमात्म मय बन जाती है, वे सर्वत्र उन्हीं की छटा निहारते

रहते हैं। ऐसे समदर्शी योगी इस विषम संसार में विरले ही होते हैं। उनके दर्शनों से ही कल्मष कट जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् आत्मज्ञानी पुरुष के लक्षण बता रहे हैं भगवान् कहते हैं—"अर्जुन! संसारी लोगों में और आत्मज्ञानी पुरुष में आकाश पाताल का, अन्धकार प्रकाश का-सा अन्तर रहता है। संसारी लोगों के अन्तःकरण की वृत्ति संसार में रहती है, ज्ञानी पुरुष के अन्तःकरण की वृत्ति परमात्मा में ही रहती है। संसारी लोग देह को ही आत्मा मानकर कार्य करते हैं। ज्ञानी पुरुष परमात्मा को ही अपनी आत्मा समझता है। अज्ञानी पुरुषों की स्थिति संसारी विषयों में रहती है, ज्ञानी पुरुष की स्थिति सदा परमात्म तत्त्व में ही बनी रहती है। अज्ञानी पुरुषों की प्राप्तव्य वस्तु संसारी विषय ही है, किन्तु ज्ञानी का प्राप्तव्य स्थान परमात्मा ही है, क्योंकि पाप या कल्मष तो अज्ञान से ही होता है। वे मोक्ष के लिये यत्न करने वाले यति परब्रह्म का ही मनन करने वाले मुनि, ब्रह्म का ही चिंतन करने वाले ब्राह्मण, ज्ञान का ही अनुष्ठान करने वाले ज्ञानी पुरुष फिर शरीर धारण नहीं करते। शरीर की प्राप्ति तो सकाम कर्मों द्वारा वासनाओं से होती है। अज्ञान के कारण ही हृदय में ग्रन्थि पड़ जाती है। ज्ञान से उनकी वह हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, समाप्त हो जाती है। अज्ञान जनित जो संशय है, वह उन ज्ञानियों का नष्ट हो जाता है वे संशय रहित हो जाते हैं। उनकी संसार चक्र से मुक्ति हो जाती है, वे संसार रूपी चक्र में पुनः नहीं फँसते।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! ज्ञान हो जाने पर फिर ज्ञानी का शरीर नहीं रहता क्या? ज्ञान होते ही शरीर नष्ट होकर ज्ञानी तुरन्त मुक्त हो जाता है क्या?"

भगवान् ने कहा—देखो, ज्ञान हो जाने पर संचित और क्रियामाण कर्म जल जाते हैं, उनका नाश हो जाता है। हाँ प्रारब्ध कर्मों का अन्त तो शरीर के अन्त होने पर ही होता है। ज्ञान हो जाने पर भी बहुत से ज्ञानी जीवन्मुक्ति अवस्था में चिरकाल तक शरीर धारण करते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—उनको तो कोई वासना नहीं, इच्छा नहीं, कुछ प्राप्त वस्तु नहीं, फिर उनको शरीर धारण करने की आवश्यकता क्या है ?

भगवान् ने कहा—यह सत्य है, उन्हें कोई कर्तव्य नहीं अकर्तव्य नहीं। विधि नहीं, निषेध नहीं। कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं। फिर भी जब तक प्रारब्ध कर्म है तब तक उनके भोग के लिये शरीर रहता ही है।

अर्जुन ने पूछा—प्रारब्ध कर्मों के भोगने को जो कर्म शरीर से होते हैं, उनमें ज्ञानी की आशक्ति नहीं होती क्या ? बिना आसक्ति से कर्म कैसे होते होंगे ?

भगवान् ने कहा—"ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को शरीरपने का अभिमान होता ही नहीं। प्रारब्ध के वशीभूत होकर कर्म अपने आप पूर्वकर्मानुसार होते रहते हैं जैसे कुम्हार अपने चाक में डन्डा डालकर उसे बड़े वेग से घुमाता है, कुछ समय के पश्चात् डन्डे को निकाल लेता है, फिर बिना डन्डा घुमाये चाक अपने आप तब तक घूमता रहता है, जब तक वह दुबारा डन्डा न डालकर न घुमावे। दुबारा डंडा न डालेगा तो वह थोड़ी देर तक तो बिना डंडा के ही घूमता रहेगा, अन्त में उसका घूमना अपने आप बन्द हो जायगा। यह प्रारब्ध रूपी डंडा ही इस शरीर रूपी चाक को घुमा रहा है ज्ञान हो जाने पर दुबारा डंडा नहीं लगाया जाता किन्तु जब तक पुराने डंडे का वेग समाप्त

न होगा, तब तक बिना डंडा लगाये भी चाक घूमता ही रहेगा। इसलिये प्रारब्ध कर्मों तक यह शरीर बना ही रहता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"हम कैसे जाने यह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण कृपा करके मुझे बता दें।"

भगवान् ने कहा—"देखो, जीवन्मुक्त पुरुष की मोटी पहिचान यह है, कि वह समदर्शी हो जाता है। यह उत्तम है, यह मध्यम है, यह अधम है यह उसकी भेद बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। ज्ञान दृष्टि से वह सब में समान रूप से ब्रह्म का दर्शन करता है।"

संसार में सभी वस्तुओं में जीव है। निर्जीव या जड़ कोई पदार्थ नहीं। हाँ कहीं जीव व्यक्त है, कहीं अव्यक्त है। जो घोर तमोगुणी है, जैसे पर्वत आदि वहाँ जीव-प्राण संचार दीखता नहीं। जहाँ प्राणों का संचार घटना बढ़ना, सूखना हरा होना दीखता है, ऐसे जीव पाषाण आदि से श्रेष्ठ है। जैसे वृक्ष आदि। उन वृक्ष आदि प्राणधारियों से भी हाथी, कुत्ता आदि जो थोडा बहुत बुद्धि से काम लेते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। उन बुद्धि जीवियों से भी मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में भी जो ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए हैं वे श्रेष्ठ हैं। उन जाति के ब्राह्मणों से भी वे श्रेष्ठ ब्राह्मण वह है जो विद्वान् है। उन विद्वान ब्राह्मणों में भी सर्वश्रेष्ठ वह ज्ञानी है जो विद्या विनय से सम्पन्न हो। उससे श्रेष्ठ संसार में कोई नहीं।

जीवन्मुक्त पुरुष सबसे श्रेष्ठ विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण में मध्यम जो गौ आदि पशु हैं अधम तमोगुणी जो हाथी, कुत्ता, चांडाल आदि हैं इन में कोई भेद भाव नहीं करता। उन सब में वह भगवान् को ही देखता है। यही जीवन्मुक्त पुरुष की विशेषता है। उसकी विषम दृष्टि समाप्त हो जाती है। शरीर की

क्रिया तो उसकी अपने शरीर संस्कार के समान ही होती है, किन्तु उसकी दृष्टि में से भेद भाव सर्वथा समाप्त हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! स्मृति शास्त्रों में तो सर्वथा भेद ही भरा पड़ा है। अमुक के हाथ का न खाना चाहिये, अपने से छोटे को नमस्कार न करना चाहिये। अपने से बड़ों को देखकर उठना चाहिये। पूज्य की पूजा करनी चाहिये। अपूज्यों की पूजा न करनी चाहिये। सभी वेद शास्त्र उत्तम, मध्यम, नीच का उनसे यथा योग्य व्यवहार का उपदेश करते है, फिर ज्ञानी ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण क्यों करता है। वह ऊँचों में नीचों में एक सी दृष्टि क्यों रखता है ? क्या शास्त्र की आज्ञा उस पर लागू नहीं होती ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन की इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् जीवन्मुक्त पुरुष के और लक्षणों का जैसे वर्णन करेंगे, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

ज्ञानी कबहुँ जीवमात्र में भेद न मानें।
आत्मा एक समान सबनि में व्यापे जानें॥
हाथी गऊ समान दीर्घ लघु भेद नहीं है।
होवे चाहे श्वान आतमा एक कही है॥
ज्ञानीजन विद्या विनय—युक्त विप्र चण्डाल में।
भेदभाव मानत नहीं, समदर्शी सब काल में॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (1)

(१०)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥*

(श्री० भग० गी० ५ अ० १९, २० श्लो०)

छप्पय

जिनिको मन समभाव माहिँ नित होंहि अवस्थित।
देह त्यागिकें नहीं करें जय जगकूं जीवित॥
शोक मोह तें रहित रहें सब में प्रभु जानें।
जीवमात्र में दोष न देखें सब सम्मानें॥
ब्रह्म सच्चिदानंदघन, सम है अरु निरदोष है।
रहैं अवस्थित ब्रह्म में, तिनिहिँ आत्मसन्तोष है॥

---

* जिनका मन समभाव में स्थित हो गया है। उन्होंने इस लोक में ही संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है। इसलिये समदर्शी ब्रह्म में ही स्थित है ॥१९॥

जो प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय को पाकर जिसे उद्वेग नहीं होता, ऐसा स्थिर बुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म में ही स्थित है ॥२०॥

विषमता ही बन्धन का कारण है, और समता से ही मुक्ति सम्भव है। बिना समभाव हुए मुक्ति सम्भव नहीं। आप जब तक नीचे रहेंगे तब तक आपको भान होगा, कि यह स्त्री है, यह पुरुष है। यह पापी है, यह पुण्यात्मा है। यह शत्रु है, यह मित्र है यह उदासीन है। किन्तु जहाँ आप बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़कर या बहुत ऊँचे उड़ते हुए वायुयान में बैठकर देखेंगे, तो आपका भेद-भाव दूर हो जायगा। वायुयान से नीचे राजपथ पर चलते हुए नर-नारी तुम्हें एक समान ही दृष्टिगोचर होंगे उनमें आप यह भेदभाव नहीं कर सक्ते कौन स्त्री है कौन पुरुष, कौन परिचित है कौन अपरिचित। कौन शत्रु है, कौन मित्र। सभी आपको समान रूप से सड़क पर रेंगते हुए, चलते हुए छोटे-छोटे जन्तु ही दिखायी देंगे। इसी प्रकार जब जीव माया मोह तथा अविद्या में ग्रसित होकर नीचे स्तर से देखता है, तो उसे जीवों में भेदभाव दिखायी देने लगता है। वही जब ज्ञान प्राप्त करके अविद्या का नाश करके ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त बन जाता है, तो उसका भेदभाव नष्ट हो जाता है, फिर चाहे वह निष्काम भाव से कर्म करता रहे, चाहे सब कर्मों से निर्मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरता रहे उसके ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा न पड़ेगी, वह समदर्शी बन जायगा।

एक ऋषिकुमार ने अपने गुरु से पूछा—महाराज! हम राजर्षि जनक की बड़ी प्रशंसा सुनते है; वे जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी हैं। ब्रह्मज्ञानी होकर वे राजपाट के झमेले में क्यों पड़े रहते हैं। इतने सारी राज्य का शासन करते हुए वे समदर्शी कैसे हो सक्ते हैं।

गुरु ने कहा—अच्छा, चलो "हम तुम्हें राजर्षि की समता का दर्शन कराते हैं।" यह कहकर दोनों गुरु-शिष्य जनक की राजधानी की ओर चले। रात्रि हो गयी थी। सब लोग शयन कर रहे

थे। द्वारपालों से ऋषि ने कहा—हमें महाराज से बहुत आवश्यक कार्य है; द्वारपाल जानते थे, ऋषि ब्रह्मज्ञानी हैं महाराज की सभा में आते जाते रहते हैं, ब्रह्मज्ञानियों के लिये राजमहल में कहीं रोक टोक नहीं थी। दोनों भीतर चले गये। अन्तःपुर में जहाँ महाराज राजमहिषी के साथ शैया पर शयन कर रहे थे, वहाँ दोनों पहुँचे। महाराज का अन्तःपुर शयन कक्ष बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित था। रत्नों के प्रकाश से वह कक्ष जगमग जगमग करके प्रकाशित हो रहा था। एक बहुमूल्य शैया पर महाराज अपनी राजमहिषी के साथ शयन कर रहे थे। उनका एक हाथ पलंग के नीचे लटक रहा था, दूसरा हाथ चंदन कुंकुम से चर्चित राजमहिषी के वक्षःस्थल पर विराजमान था। महाराज महिषी के वक्ष को धीरे-धीरे दबा रहे थे।' शिष्य ने कहा—"भगवन्! किस विषयी के पास ले आये। यह तो संसारी भोग विलास में रत है, शीघ्र ही यहाँ से चलिये, ऐसा विषयी ब्रह्मज्ञानी भला कैसे हो सकता है।"

ऋषि ने शिष्य से कहा—"थोड़ी देर ठहरो तो सही समीप में जो यह आग जल रही है वहाँ से जलते हुए दो कोयले तो उठा लाओ।" शिष्य ने ऐसा ही किया। दो बड़े-बड़े प्रज्वलित कोयले उठा लाया। एक पात्र में रख कर।

गुरु ने कहा—"राजा के दूसरे पलंग से लटकते हुए हाथ में इन कोयलों को रख दो।"

शिष्य ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। जलते हुए कोयले राजा के हाथ पर रख दिये। राजा बिना बाधा के उन कोयलों को भी उसी प्रकार दबाने लगा। तब गुरु ने कहा—राजा के लिये कुंकुमचन्दन से चर्चित राजमहिषी का वक्षःस्थल और प्रज्वलित अग्नि के अंगारे दोनों समान हैं; उनकी दृष्टि में दोनों

में कोई भेद नहीं। इसलिये ये राजर्षि जीवन्मुक्त समदर्शी हैं।

इसी प्रकार जड़ भरतजी को उनके भाइयों ने पके हुए खेत को रखाने के लिये उन्हें मंच पर बिठा दिया था, वहीं आनन्द से बैठे पक्षियों को देखते रहे। जब वृषल राजा का बलिपशु भाग गया, तो नौकर बलिपशु को खोज में आये और इन्हें बलिदान के लिये ले गये। बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये वे उनके साथ चले गये। बलिदान करने वालों ने उन्हें स्नान कराया, लाल नये वस्त्र पहिनाये, बिना आपत्ति के सब कुछ करते गये। वे समझते थे, मेरी बलि होगी, किन्तु वे समदर्शी तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके आगे मिठाई रखी गयी मृत्यु सम्मुख प्रत्यक्ष दिखायी देने पर भी भर पेट मिठाई उड़ाई। जब पुरोहित खड्ग लेकर उनका बलिदान करने लगे तो सिर नीचा कर दिया। किन्तु देवी इतने भारी ब्रह्मज्ञानी के तेज को न सह सकी। इतने समदर्शी की बलि ग्रहण करने की तामसी देवी में शक्ति ही नहीं थी, उसने प्रकट होकर पुरोहित दस्युराज सब को मार दिया। ये महात्मा बिना हर्ष विशाद के वहां से चल दिये। जंगलों में विचरने लगे। उसी समय सिन्धु सौवीर देश के राजा की पालकी का कहार बीमार हो गया। कहारों के चौधरी ने इन्हें हृष्ट-पुष्ट देखकर कहारों के साथ इन्हें पालकी मे लगा दिया, तो ये कहारों के साथ-साथ पालकी ढोने लगे। कैसी समता है। जीवन्मुक्त पुरुष यह नहीं देखते यह नीच है या ऊंच उनकी दृष्टि तो सभी में सम ही रहती है।

एक परमहंस जी रात्रि में विचरण कर रहे थे। उधर से कुछ चोर चोरी करने जा रहे थे। हृष्ट-पुष्ट परमहंस को देखकर बोले—"तुम कौन हो ?"

परमहंसजी ने कहा—जो तुम हो वही हम हैं।

चोरों ने कहा—तुम यहाँ जंगल में क्यों घूम रहे हो ?

परमहंस बोले—"जैसे तुम घूम रहे हो वैसे ही हम भी घूम रहे हैं।"

चोरों ने कहा—"हम तो चोर हैं, चोरी करने जा रहे हैं, तुम भी हमारे साथ चलोगे ?"

परमहंस ने कहा—"चलो।"

यह कह कर परमहंसजी चोरों के साथ चल दिये। एक गाँव में जाकर एक धनिक के यहाँ सेंद लगायी। "चोर लोग चोरी करने जाते हैं, तो कुछ तो भीतर घुस जाते हैं, एक दो को पहरे पर खड़ाकर जाते हैं, कि कोई शंका वाली बात हो, तो वह भीतर वालों को सचेत कर दे।" इन परमहंस को नया ही चोर समझकर इन्हें पहरे पर खड़ा कर दिया और एक सीटी इनके हाथ में देते हुए चोरों ने कहा—"कोई शका हो, कोई आता हुआ आदमी दिखायी दे, तो तुम इस सीटी को बजा देना।"

परमहंसजी ने 'बहुत अच्छा" कहकर स्वीकार किया। वे ज्यों ही भीतर घुसे कि परमहंसजी सीटी बजाने लगे। चोर शीघ्रता से सेंद में निकलकर भागे। परमहंसजी भी उनके पीछे-पीछे भागे। दूसरे गाँव में फिर सेंद लगाई उनके घुसते ही परमहंसजी सीटी बजाने लगे। चोर तुरन्त निकल आये। चारों ओर देखकर बोले—"तुम बड़े खराब आदमी हो, न तो कोई आदमी आ रहा है, न कोई हमें देख ही रहा है। न कोई आशंका की बात हो है, फिर तुमने सीटी क्यों बजाई।"

परमहंसजी ने कहा—"भाई, सबका साक्षी, घटघटवासी परमात्मा तो सबके कामों को देख ही रहा है। चोरी जैसा कार्य करोगे तो नरक में नहीं जाओगे। नरक की आशंका तो सबसे बड़ी आशंका है। जिसका धन ले जाना चाहते हो, उसे भी तो

सचेत कर देना चाहिये।

परमहंसजी की इस समदर्शिता का उन चोरों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने चोरी करना सदा के लिये छोड दिया। इसीलिये कहते हैं समदर्शी के लिये सभी सम हैं, सभी बराबर हैं वह भेदभाव से रहित होकर स्वच्छन्द रीति से संसार का व्यवहार करता है, अथवा निर्द्वंद्व होकर पृथ्वी पर विचरण करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! तत्वदर्शी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के सम्बन्ध में बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"पार्थ! जिसका मन सम भाव में स्थित हो गया है उसे शरीर के अन्त होने के अन्तर मुक्ति प्राप्त होगी सो बात नहीं। वह तो इसी लोक में जीता हुआ ही मुक्त है। वह तो संसार पर विजय प्राप्त करके इसी संसार में विजय का झंडा गाड़कर जीते हुए ही मुक्ति रूपी परमानन्द का आस्वादन करना रहता है। उसे मुक्ति की प्रतीक्षा नहीं करनी पडती। मुक्ति तो उसके पीछे-पीछे हाथ जोड़ती हुई अनुनय विनय करती हुई घूमती रहती है। उसमें संसारी दोष रहते ही नहीं।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! संसार तो दोषों की खानि है। संसार में सर्वत्र विषमता ही विषमता है। इस विषम संसार में स्थित प्राणी उसके दोषों में लिप्त न हो, यह तो असंभव है। काजर की कोठरी में कैसा भी सुजान पुरुष बच बचकर जाय। कुछ न कुछ कालिख तो उसे लग ही जायगा। इसी प्रकार विषम संसार में स्थित प्राणी समदर्शी कैसे हो सकता है?

भगवान् ने कहा—अरे, अर्जुन जिसने ज्ञान के द्वारा अज्ञान को भगा दिया है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष विषम संसार में स्थित न होकर वह तो सदा सर्वदा ब्रह्म में ही स्थित रहता है, उसकी

वृत्ति तो निरन्तर ब्रह्ममयी ही बनी रहती है। ब्रह्म में कोई भी दोष नहीं वह सदा सवदा निर्दोष है। ब्रह्म में कोई विषमता नहीं वह सदा सम है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जो निर्दोष सम ब्रह्म में स्थित रहता है उसका विषम संसार बिगाड़ ही क्या सकता है। वह तो जल में कमल के समान सदा निर्लेप ही बना रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष की स्थिति कैसी होती है।"

भगवान् ने कहा—"ऐसा ब्रह्मज्ञानी समदर्शी जीवनमुक्त पुरुष इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों को पाकर परम प्रहर्षित नहीं होता, इसके प्रतिकूल इन्द्रियों को अच्छे न लगने वाले विषयों को पाकर उद्विग्न भी नहीं होता। चिन्ताग्रस्त होकर शोकाकुल या दुखी भी नहीं होता। यह उसकी सम बुद्धि की पहिचान है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! ऐसी उसमें कौन-सी विशेषता है?"

भगवान् ने कहा—देखो भाई, एक तो उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। अस्थिरता में ही दुःख सुख की अनुभूति होती है। स्थिर बुद्धि वाले सभी घटनाओं में समभाव से बने रहते हैं। दूसरे दुःख का कारण जड़ता या मूढ़ता हैं। मूढ़ता में ही सम्मोह होता है, वह पुरुष मोह से रहित होकर ब्रह्मवित् बन जाता है। मोह के क्षय का ही नाम मोक्ष है, वह सदा सर्वदा, ब्रह्मभाव में ही भावित रहने के कारण ब्रह्म रूप में अवस्थित रहता है। जब उसे संसार से कोई प्रयोजन ही नहीं, तब तो कालिख लगने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अर्जुन ने पूछा—आनन्द का हम नाम ही सुनते हैं। जब तक इसकी अनुभूति जीव को न हो तब तक वह उसके स्वाद से

वंचित ही रह जाता है। ये जो संसारी पदार्थ हैं, इनमें प्रत्यक्ष सुख दिखाई देता है, आत्मज्ञानी इन विषय के सुखों में क्या समझकर उदासीन बना रहता है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् जो ब्रह्मज्ञानियों के और लक्षण बताते हुए इन बातों का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आप से आगे करूंगा। यह विषय बड़ा गूढ़ है, इसे सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर्मुख विचार न करना चाहिये क्योंकि बिना श्रवण, मनन और निदिध्यासन के आत्म साक्षात्कार होता नहीं है।

छप्पय

कौन ब्रह्म में नित्य अवस्थित प्रश्न भयो जब।
ज्ञानी को जो रूप बतावैं कृष्णचन्द्र तब॥
प्रिय पदार्थ कूँ पाइ न ज्ञानी हरषित होवै।
होहि नहीं उद्विग्न अप्रिय लखि जो नहिँ रोवै॥
ज्ञानी इस्थिर बुद्धि वह, रहै नित्य आनन्द में।
ब्रह्मलीन संशय रहित, थिती सच्चिदानन्द में॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (२)

[११]

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥*

(श्री भग० गी० ५ अ० २१, २२ श्लोक)

छप्पय

बाह्य विषय में नहीं कबहुँ आसक्ति लखावै ।
अन्तःकरन विशुद्ध बने ज्ञानी कहलावै ॥
आत्मा में ही रमन करै अति आनँद पावै ।
आत्मज्ञान जिनि भयो तिनहिँ सुख सत्य दिखावै ॥
ब्रह्मयोग तैं युक्त जो, आत्मानन्द निमग्न जन ।
अक्षय सुख पावै वही, होवै तिहि विचलित न मन ॥

---

* बाहर के जो भोग विषय हैं, उनमे जिसका अन्तःकरण आसक्ति रहित है । जो आत्मा मे ही सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्मयोग युक्तात्मा पुरुष अक्षय सुख की अनुभूति करता है ॥२१॥

जितने भी ये इन्द्रिय स्पर्शजन्य सुख भोग हैं, वे सबके सब दुखदायी हैं, अनित्य हैं । हे कौन्तेय ! बुद्धिमान् पुरुष उनमे रमण नहीं करते ॥२२॥

सुखानुभूति स्पर्श के द्वारा ही होती है। अपनी प्रिय वस्तु का जब हमारी इन्द्रियों से स्पर्श होता है, तभी सुख की उपलब्धि होती है। और इन्द्रियों के गोलक तो बँधे हुए हैं। देखना आँखों से ही होगा, सुनना कानो के छिद्रों द्वारा ही होगा, रस का आस्वादन रसना इन्द्रिय से ही होगा। सूंघने का काम नासिका छिद्रों द्वारा ही होगा, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय सभी अंगों में व्याप्त है। आप देखते नहीं, फिर भी आपकी पीठ पर कोई चींटी चले, तो स्पर्श के ही द्वारा आपको ज्ञात हो जायगा, जोई जीव पीठ पर चल रहा है, हाथ तुरन्त जाकर उसे हटा देगा। शरीर के अंग चाहे पीठ की ओर हों, या पेट की ओर सभी स्थानों पर स्पर्शेन्द्रिय ही सुख दु:ख की अनुभूति करेगी। यहाँ तक कि अन्य इन्द्रियों में भी स्पर्शेन्द्रिय ही अधिक कार्य करती है। विषयों का इन्द्रियों के साथ जब संयोग होता है, तभी अपने आपको दुःख अथवा सुख की अनुभूति होती है। आप कहेंगे, जिन वस्तुओं को हम स्पर्श नहीं करते, उनसे भी दुःख सुख होता है। कोई परम सुन्दर व्यक्ति है, वह हमसे बहुत दूर है, हमारी त्वचा ने उसके शरीर का स्पर्श नहीं किया है, फिर भी उसके सौन्दर्य के कारण हमें सुखानुभूति होती है, यह क्या बात है। तो इसका उत्तर यही है कि स्पर्श के लिये कोई त्वचा का छूना आवश्यक नहीं। आपकी दृष्टि जहाँ तक जा सकती है, उस दृष्टि का जिस-जिस वस्तु से स्पर्श हो सकता है, उस दृष्टि स्पर्श से ही सुख-दुख की प्रतीति होने लगेगी। दूर खड़े अपने सगे सम्बन्धी, शिशु या महिला के शरीर से हमारी दृष्टि का स्पर्श हुआ उसी से सुख-दुख का अनुभव होने लगेगा।

आप कहेंगे कि बहुत सी वस्तु ऐसी है, जिन्हें हमारी स्पर्श नहीं करती, फिर भी उन वस्तुओं से हमें सुख-दुख

है। हम सडक के किनारे-किनारे जा रहे हैं। सड़क के किनारे पर बहुत से बगीचे लगे हैं, उनकी बड़ी ऊँची-ऊँची दीवालें उठी हैं हम देख भी नहीं सकते इनमें किनके वृक्ष हैं, किन्तु रात्रि में जा रहे हैं. रजनी गन्धा की सुगन्धि आ रही है, चित्त प्रसन्न हो जाता है, किसी बगीचे में से गुलाब की, चम्पा की, पारिजात की माधवी की, मालती की, मल्लिका की, माधुरी की सुगन्धि आ रही है चित्त प्रफुल्लित हो जाता है, कहीं सियार का शरीर सड़ा हुआ पड़ा है, उसके कारण हमें दुःख होता है, नाक बन्द कर लेते हैं कहीं कोई सुन्दर गाना गा रहा है, चित्त झूमने लगता है, यद्यपि गाने वाले को हम देख नहीं सकते। यह क्या बात है।

बात यह है कि पुष्पों की गन्ध का जब आपकी घ्राणेन्द्रिय से स्पर्श होता है तभी आपको सुख होता है। वायु में सड़े प्राणी के शरीर की दुर्गन्धि फैल जाती है, उस दुर्गन्ध युक्त वायु का आपकी घ्राणेन्द्रिय से स्पर्श होता है इसी से दुःख होता है दीवाल के भीतर कोई गा रहा है, चारों ओर से किवाड़ें बन्द हैं किन्तु उसकी वाणी खिड़की छिद्रों से निकल कर वायु में फैल जाती है और उस गायन स्वर का स्पर्श जब तुम्हारी कर्णेन्द्रिय से होता है. तो कान जाकर हृदय से कहता है, तो वह वेदना हृदयस्पर्शी हो जाती है, उसी से हृदय को सुख-दुख की अनुभूति होती है। इसलिये सुख-दुख में विषय और इन्द्रिय का संयोग आवश्यक है। वह स्पर्श चाहे त्वचा से त्वचा का हो, या शब्द का कर्ण से हो, रूप का चक्षु से हो, या गन्ध का घ्राण से हो, या विषयों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से हो तभी सुख-दुख की अनुभूति होगी। वस्तु दो प्रकार की है, वाह्यवस्तु और अन्तः की वस्तु। बाहर के जितने शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य विषय हैं, वे सबके सब

बाह्यस्पर्श जन्य वस्तु हैं और अन्तः की वस्तु तो ब्रह्म या आत्मा है। बाहर की जितनी वस्तुयें हैं, वे सबकी सब नाशवान् क्षयिष्णु हैं अन्तर की जो अन्तरात्मा है, वह अविनाशी और नित्य है। जो वस्तु जिससे बनेगी वह उसी के गुणवाली होगी। जैसे मिट्टी के बने घड़े, सकोरे, खिलौने आदि होंगे वे सब मिट्टी के गुणवाले होंगे, मृण्मय कहलायेंगे। सुवर्ण की बनी जितनी वस्तुएं जंजीर, कंकण, अंगूठी, हार आदि होंगे वे सब सुवर्ण के आभूषण और सुवर्ण के गुणवाले, सुवर्ण के मूल्योंवाले होंगे। इसी प्रकार विनाशशील पदार्थों से जो सुख उत्पन्न होगा विनाशी और अनित्य क्षयिष्णु होगा। अविनाशी आत्मा के स्पर्श से जो सुख होगा वह अविनाशी, शाश्वत, सत्य तथा सदा रहने वाला होगा। इसीलिये भगवान् ने आगे कहा है कि यत्न करने वाला योगी "ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंन्तं सुखमश्नुते।" ब्रह्मसंपर्शमश्नुते।" वह ब्रह्म का स्पर्श पाकर अत्यंत सुख का अनुभव करता है। ब्रह्म का स्पर्श तभी प्राप्त होगा, जब मन इन बाह्यस्पर्शों से विरक्त हो जाय। बाह्य-पदार्थों मे संसारी विषय भोगों में सुख बुद्धि न हो।

अब एक प्रश्न और उठता है। ब्रह्म को या आत्मा को तो हमने न कभी देखा है, न उसके स्पर्श का कभी अनुभव किया है। संसारी सुखों को तो न जाने हम कितने जन्मों से अनुभव करते आ रहे है। जन्म जन्मान्तरों के अनुभव हमारे अन्तःकरण में संचित हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुनादि की शिक्षा नहीं देता जन्मान्तरीय संस्कारों से जीव स्वतः ही इनमें अपने आप प्रवृत्त हो जाता है। आत्मसुख का तो जीव ने कभी अनुभव ही नहीं किया, अतः जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो विषय भोगो में ही होगी, उसे आत्मसुख का अनुभव तो असंभव है।

इस पर कहते हैं। आत्मा तो सुखस्वरूप है ही, वह तो शुद्ध

सनातन है ही। शरीर संयोग के कारण और विषयों में राग हो जाने के कारण ही यह अपने स्वरूप को भूल गया है। यथार्थ सुख को न पाकर नकली सुख के पीछे पड गया है। संसारी विषयों में सुख नहीं सुखाभास है, तनिक-तनिक सुख का आभास होता है, भोग की इच्छा प्रबल होने का नाम ही राग है। राग के वशीभूत प्राणी ही विषयों में प्रवृत्त होता है उनका उपभोग करता है। उन पदार्थों मे सच्चा सुख तो है नहीं, अतः उन पदार्थों के पाने में-विषयों को प्राप्त करने में-बडा क्लेश उठाना पड़ता है, दूसरों को दुख पहुँचा कर ही विषय सुख प्राप्त होते हैं, इसलिये उनका परिणाम भी दुःखद ही होता है। विषयों को भोगते समय क्षण भर के लिये सुख का आभास होता है, किन्तु अन्त में तो वियोग के कारण दुःख ही होता है। जिसके आदि में भी दुख हो और अन्त भी दुःखदायी हो उसके मध्य में भला सुख कैसे हो सकता है। इसीलिये विषयों के उपभोग से आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ, उसके पास चाहे विषयों के उपभोग की कितनी भी प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ क्यों न रही हों। महाराज ययाति विषयों को भोगते-भोगते बूढ़े हो गये। फिर भी उन्हें शान्ति प्राप्त नहीं हुई। तब अपने पुत्र की युवावस्था लेकर उसे अपनी वृद्धावस्था देकर फिर संसारी विषयों का सहस्रों वर्षों तक उपभोग किया, फिर भी जब शान्ति प्राप्त नहीं हुई, अपितु काम-वासना और अधिक बढ़ती ही गयी, तब उन्होंने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला—"उपभोग से कामवासना तृप्त नहीं होती, किन्तु जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने पर वह अधिकाधिक बढ़ती ही है, वैसे ही उपभोग से कामनायें और प्रज्वलित होती हैं, इसलिये विषयों से उपरत होकर आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिये।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषों के लक्षण बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! यथार्थ सुख का अनुभव तो जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष ही करता है, बाह्य-विषयों में आसक्त प्राणी तो तन्मात्राओं में ही सुख खोजता रहता है, किन्तु बाहरी विषयों में भला सच्चा सुख कहाँ ?

अर्जुन ने पूछा—"तब सच्चे सुख के लिये साधक को क्या करना चाहिये ?

भगवान् ने कहा—"शब्द, रूप, रस, गन्ध और बाह्यस्पर्श रूपी विषयो में चित्त को आसक्त न होने देना चाहिये। इन विषयों में सदा अनासक्त बने रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"बाह्यविषयों में आसक्ति न रखने से उनमें भोगेच्छा न रखने से क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—तब उसे अनन्त सुख की उपलब्धि होगी। बाह्यविषयों से मुख मोडने वाले पुरुप का ही चित्त समाधियुक्त होता है। उस समाधि द्वारा ही उसकी ब्रह्म में तन्मयता होती है और तभी ब्रह्म का स्पर्श होता है, ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब तक चित्त बाह्यविषयों में आसक्त बना रहेगा, उसे ब्रह्म साक्षात्कार नही हो सकता।"

अर्जुन ने पूछा—आत्मा में अक्षय सुख का अनुभव होता कैसे है ?

भगवान् ने कहा—"आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव होता है, बाह्यविषयों में जो सुख की भावना है, उनमें जो आसक्ति है उसके छूट जाने पर।"

अर्जुन ने पूछा—"बाह्यविषयों की आसक्ति दूर कैसे और कब होती है ?"

भगवान् ने कहा—"वह आसक्ति तो आत्मसुख का अनुभव

करने से ही दूर होगी। यदि तुम इन्द्रियों को उनका आहार मत दो। निराहार रह जाओ। तो उस समय इन्द्रियों और विषयों का संयोग न होने से विषयों से तो वह बचा रहेगा, किन्तु विषयों में जो एक प्रकार का रस है–अनुराग है, उनके उपभोग की इच्छा है, वह आसक्ति तो बनी ही रहती है। वह आसक्ति तो आत्मदर्शन से ही दूर होगी।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, यह तो वृक्ष और बीज वाली बात हो गयी। किसी ने पूछा–बीज पहिले हुए या वृक्ष।"

किसी ने कहा—"बीज से ही वृक्ष होता है, अतः पहिले बीज ही हुआ।"

तब दूसरे ने पुनः प्रश्न किया—"बीज भी तो वृक्ष से ही होता है, वृक्ष न हो तो बीज उत्पन्न ही कैसे होगा, अतः बीज से पहिले तो वृक्ष का ही होना सिद्ध होता है।"

इसी प्रकार जैसे वृक्ष और बीज की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है, उसी प्रकार बाह्यविषयों की आसक्ति दूर होने पर आत्मसुख का अनुभव होगा। और आत्मा में अक्षयसुख का अनुभव करने पर विषयों की आसक्ति दूर हो जायगी। तब तो इनमें से एक भी सिद्ध नहीं हो सकता।

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम सत्य कहते हो, यद्यपि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तथापि विषयों के प्रति वैराग्य वृत्ति रखने से और उनमें दोष दृष्टि का अभ्यास करने से शनैः-शनैः अपने आप मन विषयों से उपरत होने लगेगा। विषयों से उपरत हुए मन में आत्मसुख की अनुभूति होने लगेगी।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! विषयों के प्रति आसक्ति तो जन्म जन्मान्तर से चली आ रही है, मन विषयों में आसक्त हो जाता है, और विषय मन में रम जाते हैं विषयों का ध्यान करने से मन

तदाकार हो जाता है, फिर मन को विषयों से हटाया कैसे जाय ?

भगवान् ने कहा—"देखो, मन विषयों में तभी जाता है, जब विषयों में सुख की भावना हो। ये विषय सुख देने वाले हैं, ऐसा निश्चय हो तभी मन जाता है। साधक को सबसे पहिले विषयों में दोष-दृष्टि रखनी चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—दोष-दृष्टि कैसे रखे ?

भगवान् ने कहा—"इस बात का सतत अभ्यास करते रहना चाहिये, इस बात को सदा सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो-जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भोग सुखद न होकर दुखद ही हैं। जैसे किसी अच्छी सुन्दर स्वादिष्ट मिठाई को देखकर मन ललचा गया। मन में यह इच्छा हुई, कि यह मिठाई मुझे खाने को मिल जाय, तो बड़ा आनन्द आवे, बहुत सुख मिले।" यह सोचकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रयत्न करने में भी बहुत दुःख उठाना पड़ा। किसी प्रकार वह प्राप्त हो गयी, थोड़ी मात्रा में प्राप्त हुई, तो वासना और बढ़ गयी, उसकी प्राप्ति के लिये अनेक दुःख उठाने पड़े। यदि बहुत मात्रा में प्राप्त हो गयी और अधिक खा गये, तो उससे भाँति-भाँति के उदर सम्बन्धी रोग हो गये। नाना क्लेश उठाने पड़े। इसलिये उनके प्राप्त होने के पूर्व भी दुःख और प्राप्त हो जाने के अनन्तर उपभोग के पश्चात् भी दुःख है, तो उपभोग काल में भी कौन-सा सुख मिल सकता है। अतः विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो भोग प्राप्त होते हैं, वे दुःख के ही कारण हैं, क्योंकि वे आद्यन्त है। उनका आदि भी है और अन्त भी है। आरम्भ भी है नाश भी है। जितने नाशवान् पदार्थ हैं, वे सब दुख देने ही वाले होते है। हे कुन्तीनन्दन! जो विषयवासना में आसक्त पुरुष हैं, वे ही इन विषयों में प्रीति करते हैं। जो बुधजन है, विवेकी पुरुष हैं, पंडित

हैं, विद्वान् हैं, वे इन विषयों में कभी रमण नहीं करते।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! विषयों से मन को सर्वथा उपरम करना बहुत कठिन काम है। मन तो विषयों की ओर बिना प्रयत्न के स्वतः ही दौड़ता रहता है।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह जो बाह्यविषयों के प्रति आसक्ति है, अनुराग है यही समस्त अनर्थों की जड़ है, कल्याण-मार्ग का यही एक प्रति पक्षी घोर शत्रु है, यह राग अत्यन्त कष्टमय है, यह साधारण उपायों से दूर होने वाला नहीं। बहुत से लोग बहुत जन्मों तक प्रयत्न करते रहते हैं, तब कहीं जाकर किसी चरम-शरीर में यह रोग दूर होता है। इसीलिये मुमुक्षु को प्रबल प्रयत्न के द्वारा इसे दूर करना चाहिये। शरीर के छूटने के एक क्षण पहिले भी यह विषयानुराग छूट जाय तो समझो वह पुरुष कृतार्थ हो गया, धन्य बन गया। जो इस शत्रु को मारकर उस अक्षय सुख को प्राप्त कर लेते हैं, वास्तव में वे ही सच्चे सुखी हैं। यह एक प्रकार का आवेग है। इसकी निवृत्ति का विधान तुम्हें मैं समझाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् इस विषयासक्ति का हटाने का जो उपाय बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जितने जगके भोग विषय इन्द्रिय सँयोगतैं।
सुखकर अतिशय लगें विषय अनुकूल भोगतैं॥
किन्तु होहि सुख नहीं जथारथ दुःख हेतु ये।
होवे इनिको आदि अन्त दुख हैं अनित्य ते॥
नहीं रमन तिनिमें फरैं, अरजुन! ज्ञानीजन कबहुँ।
मिलें भोग त्रिभुवन सकल, विचलित होवैं नहिँ तबहुँ॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (३)

[१२]

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥*॥
(श्री भग० गी० ५ अ० २३, २४ श्लो०)

छप्पय

एक जनम में जीवन रहते ज्ञान कठिन है।
जग के भ्रमसम भोग फँस्यो तिनिमें नित मन है॥
काम क्रोध को वेग प्रबल दुरजय जो भोगी।
देह त्याग तें प्रथम सहन में समरथ योगी॥
उभय वेगवश भये जे, वे ही जग में दुखी हैं।
जीवित जिनि जे वश किये, वेई योगी सुखी है॥

---

* जो पुरुष शरीर छोड़ने के पहिले, काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने मे समर्थ है, वही वास्तव मे योगी है और वही सुखी है ॥२३॥

जो अपने आप मे सुखानुभूति करता है, जो आत्मा मे आराम वाला है, जो अन्तर्ज्योति है, वह ब्रह्मभूत हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२४॥

संसार में बन्धन के हेतु दो ही हैं, कामिनी और कांचन। कामिनी उसे कहते हैं, जो धर्म के विरुद्ध विषय वासना में प्रेरित करे। कांचन उसे कहते हैं जो राजकीय मुद्राङ्कित हो। एक रुपये में इतना सोना चाँदी या धन मिलेगा। इसलिये रुपया, सोना, चाँदी आदि धातुएँ सब कांचन या धन के अन्तर्गत है। मुद्रा चाहें सुवर्ण की हो या चाँदी, ताँबा आदि धातु की अथवा चमड़ा कागद की इन सब की कांचन या धन संज्ञा होती है।

लोभ उसे कहते हैं उपभोग की वस्तुओं को अधिकाधिक संग्रह करने की इच्छा। मेरे पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और स्पर्श सम्बन्धी जितनी भी वस्तुएँ हैं अधिकाधिक रूप में इकट्ठी हो जायँ। लोभ का कहीं अन्त नहीं। श्रुति कहती है—"संसार के जितने भी खाने पीने या विषयों के उपभोग योग्य पदार्थ हैं उन सब को यदि एक ही व्यक्ति को दे दें तो भी उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। लोभ ही समस्त अनर्थों की जड़ है, विषयों के लोभ के कारण ही प्राणी संसार चक्र में फँसता है। लोभ दो प्रकार का है। स्त्री सुख के लोभ को तो 'काम' कहते हैं और द्रव्य के लोभ को 'लोभ' कहते हैं। वैसे समस्त इन्द्रियों के विषय के प्रति जो राग है, आसक्ति है, तृष्णा, अभिलाषा या कामना है उसी की काम संज्ञा है। अतः काम या लोभ दोनों सगे भाई है। काम का एक पुत्र है क्रोध। जब कोई काम वासना में विघ्न डालता है, या उसके चाचा लोभ के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित करता है, तो यह भड़क उठता है। लोभ स्वयं न तो वेगवान है और न स्वयं कुछ करता ही है, वह सामग्रियों को एकत्रित कर देता है। वेगवान् तो काम और क्रोध ही है। वेग उसे कहते हैं, जो अपनी मर्यादा को छोड़कर अमर्यादित होकर चले। साधारण स्थिति में चलने का नाम चाल है। वायु सदा

अपनी मन्थर गति से चलती ही रहती है, जब वह मर्यादा को छोड़कर चले उसे ही आंधी या तीव्र वायु वेग कहते हैं। नदी जब तक मर्यादा मे चलती है, तब तक उसके बहने को प्रवाह कहते हैं। किन्तु जब श्रावण भादों में प्रवाह से ऊपर उठकर दोनों तटों की सीमा का उल्लङ्घन करके वेग से बहने लगती है, तो उसे ही बाढ़ कहते हैं।

जो काम धर्म पूर्वक है, लोक वेद की मर्यादा के अन्तर्गत है, वह धर्म काम कहलाता है, जो क्रोध मर्यादित है, धर्मानुकूल है उसे मन्यु कहते है। किन्तु जब ये दोनों मर्यादा का उल्लङ्घन करके लोक वेद के पथ का परित्याग करके मनमानी घर जानी करने लगते हैं, तभी इन दोनों का नाम वेगवान् काम क्रोध हो जाता है। तभी ये दोनों इन्द्रियों से साँठ गाँठ करके, व्यापार में प्रवृत्त होते है और जीव को चौरासी के चक्कर मे डाल कर, घुमाते रहते हैं। इन दोनों का वेग ऐसा असह्य और दुर्धर्ष है बड़े से बड़े लोग भी इनके वेग में बह जाते हैं। काई इस बात का अभिमान भूल कर भी न करे, कि मैंने काम को जीत लिया।

एक बडे ही सुन्दर महात्मा थे, उनका स्वरूप अत्यन्त ही आकर्षक था। एक कामिनी वेश्या उनके रूप पर आसक्त हो गयी। उसने अपने हाव भाव कटाक्षों द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्पित करना चाहा। किन्तु वे महात्मा विचलित नही हुए। इससे वह उनसे चिढ़ गयी। वे जब भी भिक्षा लेने उधर से निकलें तभी वह पूछे—"तुम पुरुष हो या स्त्री ?"

महात्मा इसका कुछ भी उत्तर न दें, केवल हँसकर चले जायँ। अब उसको यह आदत ही पड़ गयी। महात्मा को देखते ही उसके मुँह से अपने आप निकल पड़े—"तुम पुरुष हो या स्त्री ?" महात्मा ने कभी भो इसका उत्तर नहीं दिया। एक

दिन महात्मा का अन्तिम समय आ गया। वे शरीर का परित्याग करने ही वाले थे, कि उन्होंने एक आदमी से कहा—"अमुक वेश्या को बुला लाओ।"

महात्मा जी की आज्ञा का पालन किया गया। वेश्या आ गयी, उसने आते पूछा—"बाबा जी ! तुम पुरुष हो या स्त्री ?"

महात्मा ने गरजकर कहा—"मैं पुरुष हूँ।"

वेश्या यह सुन कर हँस पड़ी और बोली—आप पुरुष हैं, यह तो मैं जानती ही थी, किन्तु आप इतने दिनों से इसका उत्तर क्यों नहीं दिया ? आज ही आप ने अपने को नर क्यों बताया ?"

महात्मा ने कहा—जो शरीर छूटने के पहिले ही काम के वेग को सहन करने में समर्थ है, वास्तव में वही नर है। जो काम के आकर्षण के सम्मुख आते ही उसके प्रवाह में बह जाय, वह तो कामी नर पशु ही है।

एक दूसरे महात्मा थे, उनकी मूँछें बहुत बड़ी-बड़ी थीं। वे उन्हें मोड़ कर रखते। वे योगी थे।

एक दुर्जन पुरुष था, उसने एक बड़ा अच्छा कुत्ता पाल रखा था, उस कुत्ते की पूछ भी मुड़ी हुई थी। वह पुरुष जब भी आता, तभी पूँछता—"योगी जी ! तुम्हारी मूँछ अच्छी कि मेरे कुत्ते की पूँछ अच्छी ?"

महात्मा यह सुन कर हँस जाते, और कुछ भी उत्तर न देते। उस दुर्जन का अब नित्य का नियम बन गया। जब भी आता पूछता—"योगी जी ! तुम्हारी मूँछ अच्छी या कुत्ते की पूँछ अच्छी ?" महात्मा केवल प्रश्न सुन कर मुस्करा देते।

एक दिन योगी का अन्तिम दिन आ गया। योगी जी बड़े लोक प्रिय तथा प्रसिद्ध थे, उनके अन्तिम समय में सहस्रों नर-

नारी आये सभी उदास थे। उसी समय वह दुर्जन अपने कुत्ते को लिये हुए आ गया और आते ही उसने पूछा—"योगी जी! तुम्हारी मूँछ अच्छी या मेरे कुत्ते की पूँछ अच्छी ?"

तब गरज कर योगी ने कहा—"तुम्हारे कुत्ते की पूँछ से मेरी मूछें ही अच्छी हैं।"

यह सुन कर वह पुरुष हँस पड़ा और हँसते हुए बोला—"योगी जी! आपकी मूछें तो अच्छे हैं ही, किन्तु आपने यह उत्तर आज ही क्यों दिया, इसके पहिले यह उत्तर क्यों नहीं दिया ?"

योगीजी ने कहा—"देखो, भया! आसक्ति रहित होना सदा निःसंग बने रहना यतियों के लिये यही मोक्ष का मार्ग है। संग से आसक्ति से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जो योगी योग में आरूढ़ भी हो जाते हैं, ऐसे योगारूढ़ पुरुष भी संग के कारण नीचे गिर जाते हैं, उनका पतन हो जाता है, योगी से भोगी बन जाते है। अतः जब तक शरीर का पात न हो। तब तक कोई अभिमान न करे कि मैं जितेन्द्रिय योगी हूँ। शरीर के छूटने तक जिसके मन में काम का वेग न उठे उसी की मूछें वास्तव में मूँछ हैं, जो बीच मे ही फिसल गया, उसकी मूँछ तो कुत्ते की पूँछ से भी गई बीती हैं।"

इतना कहकर योगी जी ने अपने यथार्थ योगी होने का परिचय देकर शरीर त्याग कर दिया।

एक दिन एक दिगम्बर महात्मा घोर बन में नदी के किनारे एक पत्थर की चट्टान पर पड़े हुए मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। उसी समय एक राजा वहाँ आ गये। राजा ने देखा यह नंग धड़ंग व्यक्ति एकान्त में अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुख से लेटा हुआ है। यह देखकर कुतूहल वश राजा घोड़े से उतर गये उन परमहंसजी

के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बैठ गये और बोले महात्मा जी ! मैं आप से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूं ?

महात्मा जी उठकर बैठ गये और हँसते हुए अत्यंत ही स्नेहमयी वाणी में बोले—"हाँ पूछिये, क्या पूछना चाहते हैं ?"

राजा ने पूछा—"महाराज ! इस संसार में सर्वत्र चिन्ता ही चिन्ता दिखाई देती है। सुख के साधन उतने अधिक नहीं है कि सभी सुखी हो सकें। सुख तो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी विषय पदार्थों से मिलता है। सुन्दर से सुन्दर शब्द सुनने को मिले, सुन्दर से सुन्दर रूप देखने उपभोग करने को मिले। सुन्दर, स्वादिष्ट मनोनुकूल रसीले पदार्थ खाने को मिलें, सुन्दर सुगन्धित द्रव्य सूँघने को मिलें। मृदुल सुखद स्पर्श युक्त वस्तुएँ उपभोग के लिये मिलें तभी प्राणी सुख का अनुभव करता है। मैं चक्रवर्ती राजा हूँ, यद्यपि मेरे पास विषय भोग की प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ हैं, किन्तु फिर भी उतना सुखी नहीं हूँ। सदा किसी न किसी बात की चिन्ता व्याप्त हो रहती है, किसी न किसी वस्तु का अभाव मुझे बना ही रहता है। आपको देखता हूँ, कि आपके पास विषय सम्बन्धी एक भी वस्तु नहीं। शरीर पर एक फटा वस्त्र नहीं। पानी पीने को पात्र नहीं, भोजन की कोई सामग्री नहीं। फिर भी आप सदा मुस्कराते ही रहते हैं, चिन्ता की रेखा भी आपके मुख पर नहीं, यह क्या बात है ?"

यह सुनकर परमहंस जी बड़े जोर से खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"राजन् ! आप ने मूल ही भूलकर दी।"

राजा ने पूछा—भगवन् ! मूल में भूल कैसी ?"

परमहंस बोले—"आपने सुख का कारण विषयों में अनुराग ही समझ रखा है, यही मूल में भूल है। देखो, विषयों की अधिकता से कोई सुखी नहीं हो सकता। आप अपने को चक्रवर्ती

राजा बता रहे हो, और स्वयं स्वीकार कर रहे हो, कि मुझे सुख नहीं। आप तो इसी लोक के राजा हैं जो इन्द्र देवताओं के राजा त्रिलोकेश हैं, उनके पास तो दिव्य विषयों की प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ है किन्तु वे देवराज भी सुखी कहाँ हैं? किसी महात्मा को तपस्या में निरत देखते हैं किसी राजा को सौ अश्वमेध यज्ञ करते देखते हैं तो उनके पेट में पानी हो जाता है, अत्यन्त दुखी होकर उसके तप को भंग करने की चिन्ता में मग्न हो जाते हैं। सो, राजन्! राजा को सुख नहीं, महाराजा को सुख नहीं, चक्रवर्ती को सुख नहीं, इन्द्र को भी सुख नहीं। वास्तविक सुखी तो वही है जिसने राग का परित्याग कर दिया है। काम वासना पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है। इसलिये वीतराग योगी पुरुष ही यथार्थ सुखी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी काम और क्रोध की प्रबलता को बताते हुए कह रहे हैं—अर्जुन! यह तृष्णा ही वास्तव में दु:ख का कारण है।"

अर्जुन ने पूछा—तृष्णा क्या?

भगवान् ने कहा—यही संसारी विषय भोगों को सुख की इच्छा से भोगने की लालसा।

अर्जुन ने पूछा—"यह तृष्णा शांत कैसे हो?"

भगवान् ने कहा—तृष्णा विषय भोगों के भोगने से शांत नहीं होती, तृष्णा का जब तक परित्याग न किया जाय तब तक यथार्थ सुख मिलना असम्भव है।

अर्जुन ने पूछा—"तृष्णा का त्याग कौन कर सकता है। साधारण लोग तो तृष्णा का परित्याग कर नहीं सकते।"

भगवान् ने कहा—तृष्णा का त्याग क्लीव-नपुंसक नहीं कर

सकते। जो तृष्णा का त्याग करदे वही वास्तव में नर है। वही योग युक्त योगी है और वही सुखी है।

अर्जुन ने पूछा—कितने दिनों में तृष्णा का त्याग संभव है?

भगवान् ने कहा—"इसकी अवधि नहीं। जिन्होंने सहस्र जन्मों तक तप, यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म किये हों, उन निष्पाप निर्मल चित्त वाले पुरुषों के निरन्तर प्रयत्न करने पर शरीर त्याग के पूर्व इस तृष्णा की समाप्ति होती है। जो शरीर छूटने से पूर्व ही इस लोक में ही काम और क्रोध से उत्पन्न प्रबल वेग को सह सकने मे समर्थ हो जाता है वही वीतराग वितृष्ण पुरुष योगी है, वही वास्तविक नर है और वही सच्चा सुखी है। बाह्य विषयों में सुख नहीं है। विषय में जिसे तृष्णा है वह भला सुखी कैसे हो सकता है?"

अर्जुन ने पूछा—जो काम और क्रोध के वेग को जीत लेता है, वह ससार बन्धन से मुक्त हो जाता होगा?

भगवान् ने कहा—नहीं वह विमुक्त नहीं हो जाता। मुक्ति मार्ग के पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। सुख की ओर चल पड़ता है, उसे काम क्रोध को जीतकर कुछ और भी करना पड़ता है।

अर्जुन ने कहा—उसे और क्या-क्या करना पड़ता है। उसकी जीवन्मुक्तावस्था कब समझी जाती है।

भगवान् ने कहा—सुख स्वरूप तो आत्मा ही है। अनात्म पदार्थों मे रमण करने से, विषयों की अपेक्षा करने से तो दुख ही दुख मिलता है। काम और क्रोध के वेग को सहन करने से उसे सुख तो मिलता है, किन्तु परम सुख अर्थात् ब्रह्म निर्वाण या मुक्ति तो आत्मा में रमण करने से ही मिलती है। जसे संसारी लोग स्त्री पुत्रादिकों में ही रमण करते हैं, उनके साथ क्रीड़ा

करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु आत्मा के साथ क्रीड़ा करता रहे। जैसे संसारी लोग विषयों में ही आराम का अनुभव करते हैं, वैसे ही मुमुक्षु आत्मा में ही जब आनन्द का अनुभव करने लगता है। जैसे संसारी लोग बाहर के सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्योति में ही पदार्थों को देखते हैं वैसे ही मुमुक्षु भीतर की ज्योति के ही प्रकाश से प्रकाश प्राप्त करता है। वह बाह्य विषयों की अपेक्षा से रहित होकर अपने स्वरूप में ही आनन्दानुभव करता है, वह आत्मरमणी, आत्माराम, अन्तर्ज्योति वाला योगी ही ब्रह्मभूत ब्रह्मरूप परमशान्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

उस ब्रह्म प्राप्त जीवन मुक्त पुरुष के और भी लक्षण हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षणों को बताते हुए मुक्ति के हेतुभूत अन्य साधनों का जैसे वर्णन किया है उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

सुख बाहर जो लखैं अभागे पुरुष अज्ञ ते।
आत्मा ई सुखरूप जानि सुख पाइँ विज्ञ ते॥
अन्तरात्मा माहिँ करैं अनुभव सत सुख को।
आत्मा में ई रमन करैं जहँ लेश न दुख को॥
आत्मा में ई ज्ञान लखि, अन्तर ज्योति बनी रहै।
वह योगी निरबान पद, पाइ ब्रह्म में लीन है॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के लक्षण (४)

[१३]

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥*

(श्री भा० गी० ५ अ० २५, २६ श्लोक)

छप्पय

शान्तभाव कूँ पाइ कौन ज्ञानी जग माहीं।
भये पाप जिनि नष्ट नहीं कल्मष तन माहीं॥
जिनिके संशय ज्ञान-ज्योति तैं सब भगि जावैं।
सब प्रानिनि हित निरत रहें समभाव लखावैं॥
जिनिको निश्चल विजित मन, रहे सदा परमात्म में।
शांति भावकूँ पाइँ वे, देखें सबकूँ आत्म में॥

---

* जिनिके कल्मष कट गये हैं, जिनका द्वैधी भाव नष्ट हो गया है, जिनका मन संयत है ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

जो काम क्रोध से रहित हैं, जिन्होंने अपने चित्त को वश में कर लिया है, जिन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे यतियों को सब ओर से ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होता है ॥२६॥

ब्रह्मनिर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है। जब तुच्छ अनित्य संसारी कार्यों की सिद्धि के ही लिये मनुष्यों को कितना भारी श्रम करना पड़ता है, तो मोक्ष प्राप्त करना तो जीवन का चरम लक्ष्य है। उसके लिये तो अत्यधिक श्रद्धा, संयम, तप, विश्वास तथा अन्यान्य साधनों की आवश्यकता है, मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधन हैं। उनमें से कुछ साधनों का यहाँ उल्लेख करते हैं। कौन पुरुष मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है, इस बात को बताते हुए अधिकारी के कुछ गुण बताते हैं।

(१) मोक्ष का अधिकारी वही हो सकता है। जो निष्पाप क्षीण कल्मष बन गया हो।

(२) जिसके सभी संशयों का नाश हो गया हो।

(३) जिसका मन निश्चल भाव में स्थित हो।

(४) जो सभी भूतों के हित में निरत रहते हों।

(५) जिसने काम और क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली हो।

(६) जिसने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली हो।

(७) जिसने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया हो।

हमें जो यह शरीर प्राप्त हुआ है, यह अनेक जन्मों के संचित कर्मों में से कुछ पुण्य-पाप जनित प्रारब्ध कर्मों को लेकर प्राप्त हुआ है। जब तक हमारे अन्तःकरण स्थित कल्मष न कटेंगे जब तक हम मोक्ष के अधिकारी नही हो सकते। पूर्वजन्मकृत पाप ही रोग बनकर कष्ट देते हैं। रोगी पुरुष मरेगा, तो दूसरे जन्म में भी वह रोग उसके साथ जायगा। अतः सबसे पहिले शरीर का नीरोग होना आवश्यक है। तपस्या से जिसका तन क्षीण हो गया है, जिसकी विषय लोलुपता समाप्त हो गयी है, जिसका शरीर तेजयुक्त हो गया है, जिसकी वाणी में मधुरता आ गयी है और

जिसके शरीर की दुर्गन्ध चली गयी है, समझो उसके पाप क्षीण हो गये है और वह मोक्ष का अधिकारी हो गया है। कल्मष या पाप यज्ञ दान और तपस्या आदि से कटते हैं। सबसे बड़ा तप अनशन है और सबसे बड़ा यज्ञ है मन्त्र जाप। श्रद्धा संयम पूर्वक मन्त्र जाप करने से शनैः शनैः समस्त कल्मष कट जाते हैं। एक महात्मा थे उन्होंने गायत्री मंत्र के २४ अनुष्ठान किये, किन्तु गायत्री का साक्षात्कार नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने संन्यास ले लिया तब गायत्री देवी प्रकट हुई। महात्मा ने पूछा—"देवि! जब मुझे आवश्यकता थी, तब तो आप प्रकट हुई नहीं, अब जब मैंने समस्त आवश्कताओं का परित्याग कर दिया है, तब आप प्रकट हुई। अब मैं आप से क्या माँगू ?"

गायत्री ने कहा—"स्वामिन्! उस समय आप मे मेरे दर्शनों की पात्रता नहीं आई थी। मैं तुम्हे दिव्य दृष्टि देती हूँ, तुम देखो।"

दिव्य दृष्टि होने पर महात्मा देखते हैं, २४ बड़ी-बड़ी राख की ढेरियाँ जली पड़ी है एक ढेरी अभी जल रही है। गायत्री माता ने बताया—"ब्रह्मन्! पापों की ये २५ ढेरियाँ आपके परमार्थ पथ में अन्तराय थी। २४ ढेरियाँ तो २४ गायत्री के पुरश्चरणों से जल गयीं। पच्चीसवी संन्यास लेने से जल गयी। अब आप निष्कल्मष पाप रहित हो गये। अब आप मेरे साक्षात् कार के अधिकारा बन गये।"

जो लोग वर्ष ६ महीने ही कोई अनुष्ठान करके अपने को सिद्ध मानने लगते है, यह बड़ी भूल है। यह क्षेत्ररूपी शरीर बड़े प्रयत्नों से-चिरकाल तक निरन्तर श्रद्धा संयम पूर्वक साधनों में लगे ही रहने से तब कहीं जन्मजन्मान्तर में पुरुष निष्पाप निष्कल्मष हो सकता है। अतः मोक्ष के साधक को समय की

चिन्ता न करनी चाहिये उसे श्रद्धापूर्वक निरन्तर तप, यज्ञ दानादि शुभ कर्मों में लगे ही रहना चाहिये। ऐसा ही यत्नवान् श्रद्धालु साधक मोक्षका अधिकारी बन सकता है।

साधन में संशय होना यह भी बड़ा भारी दोष है। हम जो कर रहे हैं, यह ठीक है या नहीं ऐसा द्वैधी भाव आगे बढ़ने नहीं देता। एक साधक था, वह त्रिकाल सन्ध्या करता था, निरन्तर जप करता रहता था। एक दिन नारदजी उसके पास आये और बोले—"सुनते हो, साधक ! तुम्हारा यह साधन भगवान् को स्वीकार नही।"

उसने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"आप कौन हैं, भगवन् ! आपको कैसे पता मैं साधन करता हूँ और भगवान् को यह स्वीकार नहीं ?"

नारदजी ने कहा—"मै नारद हूँ, अभी-अभी भगवान् के यहाँ से-वैकुण्ठ से-आ रहा हूँ, भगवान् ने मुझसे स्वयं कहा—कि उस साधक का साधन मुझे स्वीकार नहीं।"

यह सुनते ही साधक प्रेम में विह्वल होकर कपड़ा फैलाकर नृत्य करने लगा। नारदजी ने पूछा—"भाई, इसमें प्रसन्नता की कौन-सी बात है, तुम्हें तो दुखित होना चाहिये।

साधक ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप साक्षात् देवर्षि हैं, आप कभी असत्य भाषण कर ही नहीं सकते। स्वीकार करना न करना यह तो भगवान् की अपनी इच्छा के ऊपर निर्भर है, किन्तु भगवान् को इस बात का पता है, कि मैं साधन कर रहा हूँ यही मेरे लिये बड़ी भारी बात है। भगवान् मेरे सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं, इसी से मैं कृतार्थ हो गया। स्वीकारना तो उनकी इच्छा पर है।"

उसकी ऐसी निर्भरता और संशय हीनता से प्रसन्न होकर

भगवान् उसी समय तुरन्त प्रकट हो गये। इसलिये भगवान् पर विश्वास रखते हुए जो अपने सत्य साधन में लगे रहते हैं किसी प्रकार का संशय मन में नहीं लाते वे भी मोक्ष मार्ग के अधिकारी बन जाते हैं।

साधन में मन की निश्चलता भी अत्यावश्यक है। मन इधर-उधर जिसका विचलित हो जाता है वह परम पुरुषार्थ से वंचित होकर विषयों में फँस जाता है, अतः मन को सदा निश्चल भाव से परमात्मा में ही लगाये रहना चाहिये।

एक सबसे भारी परमार्थ पथ के पथिक का लक्षण यह है, कि उसके अन्तःकरण में सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्राणियों के हित की ही कामना बनी रहे। धर्मराज युधिष्ठिर को जब नरक के दर्शन कराये गये, तो नारकीय जीवों ने कहा—"आपके शरीर से जो दिव्यगन्ध निकल रही है, इससे हम लोगों को परम सुख मिल रहा है, आप यहाँ से जायँ नहीं। धर्मराज ने सोचा—मेरे कारण इतने लोगों का हित साधन हो रहा है, तो मैं यहीं रहूँगा। देवदूत के बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने नरक में ही रहने का निश्चय किया। उनकी इस सर्वभूत हितेरत भावना के कारण उनका पुण्य अक्षय हो गया।

पार्वती ने भी अपनी सम्पूर्ण तपस्या उस बालक के निमित्त समर्पण कर दी थी जिसे मगर खा जाना चाहता था। जब वे पुनः तपस्या करने चलीं, तो शिवजी ने पूछा—"कहाँ जा रही हो।"

पार्वतीजी ने कहा—इस तालाब में एक मगर एक शिशु को खा जाना चाहता था, मुझे उस पर अत्यन्त दया आ गयी। वह मगर किसी प्रकार मानता ही नहीं था। अन्त में इस बात पर वह राजी हुआ कि आप अपनी सम्पूर्ण तपस्या दे दें तो मैं इसे

छोड़ सकता हूँ।" मैंने सम्पूर्ण तपस्या संकल्प करके उस शिशु को छुड़ा लिया। अब मैं तपस्या से हीन हो गयी। पुनः तपस्या अर्जन करने के निमित्त तप करने जा रही हूँ।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् शिव बोले—देवि! वह मगर मैं ही था, तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये मैंने ऐसा किया। उस शिशु पर दया दिखाने से आप की तपस्या क्षीण नहीं हुई वह तो करोड़ों गुनी बढ़कर अक्षय हो गयी। अतः जो समस्त जीवों के हित में लगा रहता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

एक आचार्य थे। उनके गुरु ने उन्हें मन्त्र दिया और कहा इसका अनुसन्धान करो तुम जन्म, जरा, मृत्यु, भय के दुःख से छूटकर परमानन्द के अधिकारी बन जाओगे। किन्तु देखना इसे किसी दूसरे को मत बताना।

मन्त्र ग्रहण करके आचार्य बड़े प्रसन्न हुए। वे उस मन्त्र की दीक्षा ग्रहण करके आनन्द में भरकर एक विशाल मन्दिर के समीप गये। वहाँ सहस्रों दर्शनार्थी उपस्थित थे। आप मन्दिर के गोपुर के ऊपर चढ़ गये और चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे— "जन्म, जरा, मृत्यु के भय को भगाने वाला परमानन्द को प्राप्त कराने वाला मैं तुम्हें गुप्त मन्त्र सुनाता हूँ। तुम सब लोगों को बुला लाओ।"

यह सुनकर वहाँ सहस्रों नर-नारियों की भीड़ उपस्थित हो गयी। आचार्य ने बिना भेदभाव के मन्त्रराज की व्याख्या की। सबको उसका रहस्य समझाया। अन्य शिष्यों ने जाकर गुरु से कहा—"भगवन्! आपका वह नवीन शिष्य तो मन्त्रराज की व्याख्या गोपुर पर चढ़कर बिना भेदभाव के सबको सुना रहा है।" यह सुनकर गुरु को बड़ा कोध आया। शिष्यों को भेजा, उसे तुरन्त मेरे पास बुला लाओ।

गुरु की आज्ञा पाकर हाथ जोड़े हुए आचार्य उनके सम्मुख उपस्थित हुए। कोध में भरकर गुरुजी ने कहा—"क्यों रे मैंने तो तुमसे कहा था, इसका उपदेश सबको मत देना यह परम गोपनीय परम रहस्यमय मन्त्र है। तुमने मेरी आज्ञा का उलंघन किया है? तुम सबको उपदेश दे रहे थे?"

आचार्य ने कहा—"हाँ, भगवन्! दे तो रहा था।

गुरु ने पूछा—तुम जानते हो, गुरु आज्ञा उल्लंघन करने का क्या परिणाम होगा?

आचार्य ने कहा—"बताने की कृपा कीजिये।"

गुरु ने कहा—"गुरु आज्ञा उल्लंघन करने पर करोड़ों वर्षों तक रौवरादि नरकों की यातना सहनी पड़ती है।"

आचार्य ने पूछा—"मन्त्रराज सुनने से क्या होता है?"

गुरु ने कहा—"वह तो परम रहस्यमय मन्त्रराज है, उसे जो सुनता है वह जन्म, मृत्यु, जरा दुःखादि से छूटकर परमानन्द का अधिकारी होता है।"

तब आचार्य ने धैर्य के साथ कहा—"तब तो कोई बात नहीं। नरक की यातनायें तो गुरु आज्ञा उल्लंघन करने के कारण अकेले मुझे ही सहनी पड़ेंगी। इन इतने नरनारियों को तो परमानन्द की प्राप्ति हो ही जायगी। इतने लोगों को परमानन्द की प्राप्ति हो, तो मैं अकेला ता सहप नरक यातनाओं को अनन्त काल तक सहता रहूँगा।"

अपने शिष्य की इस सर्वभूत हितेरत भावना को देखकर गुरु का हृदय भर आया, उन्होंने शिष्य का गाढालिंगन करते हुए कहा—सब प्राणियों के हित में तुम्हारी ऐसी उच्च भावना है तो मैं तुम्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम असंख्यों जीवों के

उद्धारक तरन-तारन बनोगे। तुम्हारी कीर्ति संसार में अजर-अमर रहेगी वे आचार्य भगवान् रामानुज स्वामी ही थे।"

इसलिये मोक्ष मार्ग के साधक को सदा सर्वदा सभी प्राणियों के हित के कार्यों में ही लगे रहना चाहिये।

काम और क्रोध ये दो शत्रु ऐसे हैं, कि मोक्ष मार्ग के सबसे बड़े निरोधक बाधक और नाशक हैं। अतः काम-क्रोध को वश में करने और मन को निग्रह करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो इन साधनों को करते हैं उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार होता है, वे प्रकृति की परिधि से ऊँचे उठकर परम पुरुषार्थ की सर्वोच्च सीढ़ी पर चढ़ जाते हैं। ये सभी साधन ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने वालों को अपनाने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जीवन्मुक्ति के अन्य साधनों को बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—हे कुन्तीनन्दन! जो संसारी विषयों में ही आसक्त हैं, वे मोक्षमार्ग की ओर एक पग भी नहीं बढ़ सकते।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! मोक्षमार्ग की ओर कौन से साधक बढ़ सकते हैं?"

भगवान् ने कहा—"जिनके साधना द्वारा समस्त पाप क्षीण हो गये हों। जो निष्पाप—क्षीणकल्मष—हो चुके हों।"

अर्जुन ने पूछा—और?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जिनकी बुद्धि सूक्ष्म से अति सूक्ष्म हो गयी हो, जो सूक्ष्म वस्तु को ग्रहण करने में समर्थ हों?"

अर्जुन ने पूछा—और?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो सर्वसंशय शून्य बन गये हों? जिनके हृदय की ग्रंथि खुल गई हो। जिनके शुभाशुभ कर्म क्षीण हो गये हों।

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जिन्होंने अपने मन को एकाग्र कर लिया हो, जिन्होंने बिखरी हुई चित्तवृत्तियों का निरोध कर लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान ने कहा—"और वे लोग जो सदा सर्वदा सभी प्राणियों के हित साधन में संलग्न बने रहते हों। जिनका स्व पर नष्ट हो गया हो, जो सम्पूर्ण वसुधावालों को ही अपना निजी कुटुम्ब समझते हों।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"जिन्होंने काम और क्रोध दोनों बाप बेटा शत्रुओं को अपने वश में कर लिया हो।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग मोक्ष के लिये सतत यत्नवान रहते हों, ऐसे संयत चित्त यतियों द्वारा इस पुण्य पथ का अनुसरण किया जा सकता है।"

अर्जुन ने पूछा—और ?

भगवान् ने कहा—"और वे लोग जो जिन्होंने भक्तिभाव द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया हो। जिनको भगवत् साक्षात्कार हो गया, उनके सम्बन्ध में अब कहना ही क्या ? उनको तो कुछ करना शेष रह ही नहीं जाता उनके तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि वे जीवित रहते हैं, तो यहाँ परमानन्द सुख का अनुभव करते है, समस्त प्राणियों को सुख पहुँचाते रहते हैं। यदि शरीर त्याग कर देते हैं, तो फिर इस संसार में पुनः नहीं आते, दिव्य सुख का–ब्रह्मनिर्माण का–आनन्द लेते रहते हैं। वे संसारी बन्धनों से सदासर्वदा के लिये विमुक्त बन जाते हैं।"

अर्जुन ने कहा—"भगवान् आपने और तो बहुत से साधन बताये। योगप्राणायाम द्वारा भी ब्रह्म साक्षात्कार होता है, ऐसा मैंने सुना है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, होता क्यों नहीं अवश्य होता है। उसके सम्बन्ध में भी मैं तुम्हें बताऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब भगवान् प्राण संयम रूप साधन को जैसे अर्जुन के प्रति बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

काम क्रोध तैं रहित जगत हित रत बड़भागी।
विजय चित्त पै करी विषय भोगनिके त्यागी॥
पाइ ब्रह्म निरवान आत्मा में लवलीना।
आत्मानन्द स्वरूप आत्मप्रिय परम प्रवीना॥
ऐसे ज्ञानिनि तैं सतत, विषय जनित दुख दूर है।
चहुँ दिशि ये अनुभव करैं, शान्त ब्रह्म परिपूर्न है॥

प्राणायाम परायण जीवन्मुक्त के लक्षण (५)

(१४)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥*

(श्रीमा० गी० ५ अ० २७ २८ श्लो०)

छप्पय

जो नहिँ मनतैं करै बाह्य विषयनि को चिंतन।
भीतर जो हैं भरे विषय तिनि करि बाहर तन॥
अन्तःकरन विशुद्ध बने तब ध्यान लगावै।
दो भौंहनि के बीच दीठि कूँ सुदृढ़ बनावै॥
चलत रहत नित नासिका, में ये दोऊ प्रान हैं।
प्रान अपानहु नाम तैं, तिनिकूँ करैं समान हैं॥

---

* बाहर के विषय भोगों को बाहर ही रखकर और चक्षु की दृष्टि को भ्रुकुटि के मध्य में स्थिर करके नासिका में विचरण करने वाले प्राण अपान को सम करके ॥२७॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियों को जीतकर, इच्छा भय और क्रोध से रहित होकर जो मोक्ष परायण मुनि है, वह तो सदा-सर्वदा मुक्त ही है ॥२८॥

ब्रह्माजी सृष्टि के आदि में ऐसा एक सर्वाङ्गीण जीव बनाना चाहते थे, जो साधन करके प्रभु को प्राप्त कर सके। जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँच सके, परम पुरुषार्थ की उपलब्धि कर सके, किन्तु वे यह निर्णय न कर सके कि वह जीव कैसा हो। उन्होंने देवताओं की रचना की, किन्तु वह तो भोग योनि है, फिर पशु, पक्षी, भूत, प्रेत पिसाच, सर्प, विच्छू आदि की सृष्टि की, किन्तु ब्रह्मा जी इन सभी को रचकर सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर अकस्मात् उन्होंने पुरुष की रचना की जो कर्मों के द्वारा नैष्कर्म्यता को प्राप्त करने में समर्थ है, जो साधनों द्वारा साध्य को प्राप्त कर सकता है। इस नर योनि को बनाकर ब्रह्मा जी अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। उससे पहिले जो देवतादि उत्पन्न हुए उन्होंने भी ब्रह्माजी से यही कहा—"सुकृतंवत ते कृतम्" महाराज! आपने यह 'मनुष्य' नाम का जीव तो बहुत ही सुंदर बनाया। आपकी यह कृति अजर अमर रहेगी और यही परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगी।

वास्तव में मनुष्य योनि सर्वाङ्ग योनि है। ब्रह्मा की यह सबसे श्रेष्ठ अन्तिम कृति है। और सब तो भोग योनियाँ हैं। वे सब परमार्थ के लिये स्वतः प्रयत्न करने में समर्थ नहीं। वे तो केवल प्रारब्ध कर्मों के दुख सुख का भोग ही कर सकते हैं। आगे के लिये कर्म नहीं कर सकते। यहाँ तक कि देव योनि भी भोग योनि है। देवता स्वर्ग में रहकर स्वर्गीय सुखों का तो–जब तक उनके पुण्य शेष है, तब तक–उपभोग कर सकते है। किन्तु यज्ञ, जप, दानादि सुकृत कर्म नहीं कर सकते। इन्द्रादिकों को कभी यज्ञादि पुण्य कर्म करने की इच्छा भी होती है, तो उन्हें यहीं मर्त्यलोक में–भूमि पर आकर ही कर सकते है। इसीलिये देवता भी इस मनुष्य योनि को पाने के लिये लालायित बने रहते हैं।

मनुष्य योनि बड़ी दुर्लभ है, वह चौरासी लाख योनियों के

पश्चात् ही प्राप्त होती है। इस मनुष्य योनि को भी पाकर जिसने साधनों द्वारा परम साध्य प्रभु को प्राप्त नहीं किया, उसने तो जीती बाजी को हार के रूप में परिणित कर दिया। इस मनुष्य शरीर को पाकर जिसने संसारी भोग विलास में ही इसे नष्ट कर दिया उसने बहुमूल्य दिव्यमणि को काँच के टुकड़े के बदले बेच दिया। इसलिये मनुष्य शरीर पाकर साधन भजन में ही संलग्न बने रहना चाहिये। मनुष्य का इसीलिये एक नाम साधक भी है।

परमात्मा को प्राप्त करने के विविध साधन हैं, उनमें से प्राणायाम भी एक मुख्य साधन है। प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर के समस्त मल जलाये जा सकते हैं। तभी साधक निर्मल तथा विगतज्वर-निष्पाप-निष्कल्मष बन सकता है। मनुष्य योनि क्या है, समस्त विश्वब्रह्माण्ड की एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिकृति मात्र है। जो शरीर में है वही सब विश्व ब्रह्माण्ड में है, जो शरीर में नहीं वह विश्व ब्रह्माण्ड में भी नहीं। इसलिये कहावत है—"जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है।

अब सोचना यह है कि इस शरीर में मल कहाँ से आ गया? यह तो संसार है इसकी स्थिति द्वन्द्व के ऊपर निर्भर है। द्वन्द्व न हो तो संसार भी न हो। पुण्य-पाप, सुकृत-दुष्कृत, अच्छा-बुरा, सुख-दुख, जीवन-मरण इन्हीं का नाम द्वन्द्व है। इन द्वन्द्वों का परस्पर में ऐसा सम्मिश्रण हो गया है, कि हम चाहे कि संसार में से एक ही वस्तु को लें एक को छोड़ दें ऐसा असंभव है। जैसे आप पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों में से चाहें कि हम केवल पृथ्वी ही पृथ्वी या जल ही जल को लें, शेष चार भूतों का स्पर्श ही न करें तो यह असम्भव है। इन पाँचों भूतों का परस्पर में पंचीकरण हो गया है, कोई अपने निजी शुद्ध

रूप में है ही नहीं। पृथ्वी में सौ में से पचास भाग पृथ्वी का है, पचास में जल, तेज, वायु और आकाश इन चारों का मिश्रण है। इसी प्रकार जल में जलीय अंश आधा है आधे में शेष चार भूत हैं। ऐसे ही सब भूतों में समझ लीजिये। हम एक पस जल उठाते हैं, तो समझते हैं,हमने पचभूतों में से केवल जल को ही अंजलि में उठाया,किन्तु यह हमारी भूल है। हमारी अंजलि में तो आधा जलीय भाग है और आधे में चारो भूतों का सूक्ष्म भाग है।

ठीक इसी तरह भोजन के जितने पदार्थ हैं उन सबमें पाप और पुण्य सूक्ष्म रूप से व्याप्त हैं। किन्हीं पदार्थों में पुण्यांश अधिक है, किन्हीं में पापांश हम जो जीवन के लिये आहार करते हैं, उनके द्वारा प्राणों का पोषण होता है। अर्थात् खाये हुए पदार्थों का प्राणों द्वारा रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र और ओज के रूप में परिणति होती है। इन सबमें भी मल, पाप, कल्मष, अघ या मैल रहता है। हम जो अन्न जल भीतर पेट में ले जाते हैं। उनके उत्तम भाग का तो रस बन जाता है,शेष भाग किट्ट या मल,मूत्र बनकर मूलमूत्र द्वार से निकल जाता है। रस में भी मल रहता है जिसे कच्चा मल या आँव कहते हैं। रस से जो रक्त बनता है उसमें भी मल रहता है इसी प्रकार मांस, मज्जा, अस्थि शुक्र और ओज सबमें मल रहता है। ये मल बहुत सूक्ष्म होते हैं। स्थूल मल तो मल द्वार से निकल जाता है, किन्तु सूक्ष्म मल नाड़ियों में संचित होता रहता है। वह इतना सूक्ष्म होता है, कि उसे किसी साधारण औषधि से किसी साधारण यन्त्र से आप उसे निकाल नही सकते। हमारे शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। पूरे शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा है, वे नाड़ियाँ मलावृत बनी रहती हैं, इसीलिये शरीर को "मलायतनम्" कहा गया है। व्याधियों का घर होने से इसे व्याधि-

मंदिर भी कहते हैं। जब तक शरीर की नाड़ियों में मल है, जब तक देह में व्याधियों का वास है, तब तक परमार्थ साधन संभव नहीं। इन दोषों को निकालकर शरीर को निर्दोष निर्मल बनाकर ही साधन संभव हो सकता है। ये दोष दूर कैसे हों, इसके लिये कहा गया है "प्राणायाम दहेत् दोषान्" प्राणायाम के द्वारा दोषों को जला डालें। योग शास्त्रों में "नाडी शोधन" एक क्रिया है। एक विशेष प्राणायाम द्वारा सभी नाडियों में शुद्ध वायु पहुँचायी जाती है। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ियाँ मल से भर गयीं हैं, अतः उनमें शुद्ध वायु पहुँच नहीं सकती। जब तीव्रगति से विशेष प्राणायाम द्वारा शुद्ध वायु उन नाडियों में प्रवेश करेगी, तब उनमें का मल वायु द्वारा आँतो में आ जायगा और वह मल नव छिद्रों द्वारा विशेष, कर मुख और मल द्वार द्वारा बाहर निकलने लगेगा। यह कैसे पता चलेगा कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं। इसकी मोटी-सी पहिचान यही है कि साधक नाडियो में वायु भरकर जब अपनी शरीर को अधर आकाश मे स्थित करले या वायु में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त करले, तब समझो उसकी सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयीं।

पूर्व जन्म के अशुभ संस्कारों के ही द्वारा जीव दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है, बाह्य विषयों का दास बन जाता है। वासनायें ही इन्द्रियो को अपने-अपने विषयों में लगाकर उनसे उन-उन इन्द्रियों के भोग भुगवाती है। विषयों के उपभोग से मन मलीन हो जाता है। जीव तो वास्तव में शुद्ध है। सिंह के समान बलशाली और स्वतन्त्र है, किन्तु विषयों के चक्कर में पड़ जाने से अपना सिंहत्व भूलकर ग्रामसिंह-अर्थात् कुत्ता-बन गया है।

इन्द्रियाँ तो सभी बड़ी प्रबल हैं, किन्तु इन इन्द्रियों में उपस्थ और जिह्वा ये दो इन्द्रियाँ अत्यधिक प्रबल हैं। इनको जिसने

अपने वश में कर लिया है, वास्तव में वही निर्मल साधक है।

मथुरा जी से जब वृन्दावन जाते हैं, तो मार्ग में एक शिवजी का मन्दिर पड़ता है। उस मन्दिर में शिवलिंग नही है। मनुष्य के आकार की शिव जी की एक विशाल मूर्ति है। उसमें शिव जी एक हाथ से तो अपनी जिह्वा इन्द्रिय को पकड़े हुए है और दूसरे हाथ से उपस्थेन्द्रिय को पकड़े हैं। एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा ने जब उनके दर्शन किये तो वे आनन्द में भरकर नृत्य करने लगे। उनके साथी ने पूछा—"स्वामी जी! आप को ऐसी कौन सी प्रसन्नता की वस्तु प्राप्त हो गयी, जिसके कारण आप इतने आनंद में विभोर हो गये?"

स्वामी जी ने कहा—"आज मुझे साधन का रहस्य ज्ञात हो गया।"

साथी ने पूछा—"सो, कैसे?"

महात्मा ने कहा—"साधन में ये दो इन्द्रियाँ ही अत्यन्त बाधक हैं, जो इन दो इन्द्रियों को वश में करके साधन में प्रवृत्त होगा, वहीं सिंह की भाँति निर्भय होकर साधन में बढ़ता जायगा। इन दो इन्द्रियों ने ही इस सिंह रूपी जीव को गृहपाल—कुत्ता—बना दिया है "औपस्थ्य जैह्व कार्पण्यात् गृह पालायते जनाः" कृपण उसे कहते हैं, जो फल भोगने की इच्छा रखकर कर्म करे। "कृपणा फल हेतवः" इन दो इन्द्रियों के उपभोग ने ही प्राणी को साधनहीन पंगु बना रखा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम कहलाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम कहलाते हैं। उपस्थ और जिह्वा के संयम से यम नियमों का अपने आप पालन होता है।

अब साधक साधन में प्रवृत्त होगा, तो उसे किसी सुनियोजित

आसन से वैठना होगा, अतः शास्त्रीय आसनों से बैठने का अभ्यास करे। जब सुस्थिर आसन से वैठ जाय, तो प्राणयाम का अभ्यास करे। पहिले तो जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य वाह्य विषय हैं इन्हें तो बाहर ही रहने दे। फिर प्राणायाम का अभ्यास करे। वही प्राणायाम साधन करने वाला योगी साधक कहलाता है।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! अब भगवान् अर्जुन से उस जीवन्मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में बताते हुए कहते हैं, जिसने प्राणायाम के द्वारा अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है।

भगवान् कहते है—"अर्जुन ! एक मननशील मुनि होते हैं। वे वाह्य कर्मों को महत्व नही देते वे तो मन के द्वारा विचार से ही आत्म साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त हो जाते हैं, अर्थात् वे सदा सर्वदा मुक्ति के ही आनन्द का आस्वादन करते रहते है।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! वे मुनि क्या साधन करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"वे मुनि शब्दादि वाह्य विषयों को तो बाहर ही रहने देते हैं—अर्थात् उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते।"

अर्जुन ने पूछा—"वे ध्यान जमाते कहाँ हैं ?"

भगवान् ने कहा—दोनों नेत्रों के ऊपर जो दोनों भौंयें हैं, उन दोनों भौहों के ठीक बीच में अपनी दृष्टि को एकाग्र करके मन को वहीं अटकाये रखते हैं। क्योंकि मन को तो कोई आश्रय चाहिये। नासिका में जो प्राण अपान नाम की वायु है, उसे समान करके, अपनी समस्त इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को वश में करके ध्यान मग्न हो जाते हैं। उन्हें ध्यान में ऐसा आनन्द आता है, कि उनके धारणा ध्येय में तदाकार होने से वे समाधि सुख का आस्वादन करते रहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इससे होता क्या है ?

भगवान् ने कहा—होता क्या है, सब कुछ हो जाता है। ध्यान की परिपक्वावस्था हो जाने पर संसारी भोगों की समस्त इच्छायें समाप्त हो जाती हैं। इस प्राणी को जो सर्वत्र मृत्यु का भय बना रहता है। जिस भय के कारण यह सदा सर्वदा शंकित तथा भयभीत बना रहता है, वह भय सर्वथा भग जाता है, साधक निर्भय बन जाता है। जब सब काम वासनायें ही समाप्त हो गयीं तो फिर उसे क्रोध करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। क्रोध करे भी तो किस पर करे और क्यों करे, जब सब में अपनी आत्मा ही दिखाई देने लगती है। ऐसा काम क्रोध से विमुक्त जितेन्द्रिय पुरुष तो सदा सर्वदा मुक्त ही है। उसका चाहे शरीर बना रहे अथवा नष्ट हो जाय, इस विषय में वह कभी सोचता ही नहीं। ऐसा योग साधन में तत्पर हुआ योगी जीवन्मुक्ति का आनन्द लेता है।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! बहुत से योगी ऐसे होते हैं, जो अपने को जीवन्मुक्त भी बताते हैं किन्तु आप परमात्मा का ध्यान नहीं करते। केवल श्वासों का ही व्यायाम करते रहते है, और कहते हैं ईश्वर की क्या आवश्यकता है, ऐसे लोग परिश्रम तो बहुत करते हैं। षट्क्रिया में निरत रहते हैं, उन्हें योग की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है। आकाश में गमन की भी शक्ति हो जाती है, किन्तु फिर भी हमने ऐसे लोगों का पतन भी होते देखा है, यह क्या बात है, इतने ऊंचे उठकर परमपद के समीप पहुँचकर तो उनका पतन नहीं होना चाहिये।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अर्जुन! वास्तव में वे लोग विमुक्त नहीं हुए हैं वे विमुक्त मानो है। साधनों का फल तो होना ही चाहिये। अणिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्त, प्राकाम्य आदि सिद्धियाँ उन्हें साधनों के द्वारा प्राप्त अवश्य हो जाती हैं, किन्तु

उन्होंने मूल आधार को तो पकड़ा ही नहीं। उन्होंने मेरे चरण कमलों का तो आश्रय लिया ही नहीं। मेरे प्रति उन लोगों ने सद्भावना नहीं रखी। इसी से उनका पतन देखा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—भगवन्। साधक को आप में कैसा भाव रखना चाहिये ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब अर्जुन ने भगवान् से भाव के सम्बन्ध में पूछा, तब उन्होंने इसका जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पुनि इन्द्रिनि वश करै विषय नहिँ भागन देवै।
मनकूँ करि एकाम जीति निज बुद्धिहिँ लेवै॥
मोक्षपरायन गुही कहावै मुनि विज्ञानी।
इन्द्रिय भीतर और बाहरी वश करि ज्ञानी॥
इच्छा द्वेष विहीन वह, क्रोध और भयतैं रहित।
ता योगी कूँ वेदवित, नित्ययुक्त ज्ञानी कहत॥

भगवान् को सुहृद् समझने पर शान्ति मिलती है

[१५]

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।*
(श्री भग० गी० ५ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

जो हैं ज्ञानी भक्त मोइ यदि सरबसु मानें।
तप अरु यज्ञ अनेक मोइ तिनि भोक्ता जानें ।।
सब लोकनि के ईश सबहिँ लोकनि में न्यारे।
तिनि सब कोई एक मोइ वह ईश विचारे ।।
सब भूतनि को मोइ यदि, समुझै सच्चो सुहृद जो।
स्वार्थ रहित साधक सतत, पावै सच्ची शान्ति सो ।।

बिना ईश्वर को माने हुए भी साधनों द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु वे सिद्धियाँ अधिक टिकाऊ नहीं होतीं। क्योंकि कर्मों की कोई दृढ़ता नहीं। कर्म तो प्रभु-प्रीत्यर्थ किये

---

* हे अर्जुन ! तुम जब मुझे ही यज्ञ और तप का भोक्ता सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर और सम्पूर्ण प्राणियों का एकमात्र सुहृद् समझ लोगे, तभी शान्ति को प्राप्त कर लोगे ।।२६।।

जायें तभी वे गुणकारी हो सकते हैं। अनासक्ति और भगवत्-विश्वास इन दो आधारों को लेकर जो साधन किये जायँगे, वे ही परमतत्त्व परमार्थ तक पहुँचाने में समर्थ होंगे। कर्मों द्वारा आप कहीं तक पहुँच जायँ वहीं से पतन की सम्भावना है। विदर्भ देश के राजा श्वेत ने अस्सी हजार वर्षों तक घोर तपस्या की, उस तपस्या रूपी पुण्य कर्म के प्रभाव से वे सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक तक पहुँच गये। जहाँ न क्षुधा है न पिपासा न वहाँ जरा है न मृत्यु। फिर भी राजा को वहाँ भूख लगने लगी। उसके पूछने पर ब्रह्माजी ने कहा—"जिसने पृथ्वी पर अन्न दान किया होगा उसी को भूख नहीं लगती। तुमने अन्नदान न करके इस शरीर का ही पालन पोषण किया है, वही अमर बना दिया है उसे ही तुम खाओ। १०० वर्ष पश्चात् महर्षि अगस्त्य की कृपा से तुम्हारा उद्धार हो सकेगा।"

सो, केवल कर्मों द्वारा परमसिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है। संसारी सिद्धियाँ, आकाश में उड़ना, लोक लोकान्तरों में जाना, अनेकों रूप बना लेना, ईशत्व, वशित्व प्राप्त करना ये सब तो सम्भव हैं। किन्तु इन्हें प्राप्त करके तनिक सी भूल के कारण पतन हो जाता है।

मगध के राजा के राज्य में एक योगी रहते थे। उनकी सिद्धि की चारों ओर ख्याति थी राजा भी उनकी प्रशंसा सुन कर उनके समीप गया। उनकी पूजा करके प्रार्थना की। दास के महल को भी अपनी चरण-रज से कृतार्थ करें। राजा की प्रार्थना योगी ने स्वीकार करली। वे आकाश-मार्ग से उड़कर राजा के महल में गये। राजा ने उनका रानियों सहित बड़ा स्वागत-सत्कार किया। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराया और प्रार्थना की। इसी प्रकार नित्य दास का आतिथ्य ग्रहण किया करें।

अब तो योगी का नित्य का नियम हो गया। नित्य नियम पूर्वक आकाश मार्ग से उड़कर महल में आते, भोजन करके आकाश मार्ग से ही अपनी कुटी पर लौट आते। राजा के साथ भोजन कराने में एक अत्यन्त ही रूप-लावण्य सम्पन्ना युवती सुन्दरी दासी सहयोग देती। राजा को एक दिन बाहर जाना था, उसने प्रार्थना की—"महाराज ! मुझे किसी बहुत ही आवश्यक कार्य से कुछ दिनों के लिये बाहर जाना है। जब तक मैं न आऊँ यह दासी आपकी सेवा किया करेगी।"

योगी ने इसे स्वीकार किया। राजा की उपस्थिति में तो कोई बात नहीं थी, जब योगी और वह सुन्दरी एकान्त में हुए, तो योगी के मन में विकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने कोई शारीरिक क्रिया नहीं की, किन्तु मन में विकार आते ही उनके उड़ने की सिद्धि नष्ट हो गयी। कई बार प्रयत्न करने पर भी जब वे न उड़ सके, तो उन्होंने दम्भ का आश्रय लिया।

बोले—सुन्दरी ! ये प्रजा के लोग मेरे दर्शनों को सदा लालायित बने रहते हैं। आज मेरी इच्छा है, मैं आकाश मार्ग से न जाकर पैदल ही सबको दर्शन देता हुआ जाऊँ।" यह कह कर पैदल ही गये। उनकी आकाश में उड़ने की शक्ति कामिनी की आसक्ति के कारण सदा के लिये नष्ट हो गयी। "आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः संगेन योगी, किमुताप्लबुद्धिः" आसक्ति से योगी लोगों का भी अधः पतन हो जाता है, फिर साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या ?

यदि भगवान् का आश्रय लेकर साधन किया जाय, तो वह साधन साधार होता है, भगवान् उसमें सहायता करते हैं। श्रद्धा का अवलम्ब बहुत बड़ा अवलम्ब है। भगवान् के प्रति प्रेम हो और फिर साधन किये जायं, तो उस भगवत्-प्रेम के प्रभाव से ही

साधन के समस्त विघ्न अपने आप दूर हो जायेंगे तथा परम शांति की प्राप्ति हो जायगी।

भगवान् तो नित्य हैं, शाश्वत हैं, सनातन हैं उनके प्रति की हुई श्रद्धा भक्ति तथा प्रेम तो अमरत्व प्रदान करता ही है, यदि सच्चा प्रेम संसार में भी किया जाय, तो वह भी अमरता प्रदान करने में समर्थ होता है।

एक महात्मा थे। एक बार घूमते फिरते वे एक नदी के किनारे आये। उन्होंने प्रेम से भगवान् का नाम लिया। लेते ही नदी के कच्छ-मच्छ मगर नाके सभी इकट्ठे हुए और महात्मा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने लगे। महात्माजी उन्हें उपदेश देने लगे, वे सब प्रेमपूर्वक महात्मा के उपदेशों को सुनते रहे।

वहीं पास में जंगल में एक भोला-भाला संस्कारी चरवाहा अपने पशुओं को चरा रहा था, जब उसने महात्मा का ऐसा चमत्कार देखा, तो वह आश्चर्य-चकित रह गया। महात्मा जी के प्रति उसकी स्वाभाविक भक्ति उत्पन्न हो गयी। वह महात्माजी के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला—"महात्माजी! मैं पवित्र जीवन बिताना चाहता हूँ, इसका मुझे कोई उपाय बतावें। जिससे मेरे कहने पर भी इसी प्रकार जीव जन्तु आ सकें।"

महात्माजी ने पूछा—"तुमने किसी से प्रेम किया है ?"

थोड़ी देर चुप रहने के अनन्तर सोचकर उसने कहा—"अभी तक प्रेम तो किसी से किया नहीं।"

महात्मा ने कहा—"तो पहिले कहीं जाकर किसी से प्रेम करो, प्रेम की शिक्षा लेकर तब मेरे पास आना।" इतना सुनते ही वह श्रद्धा विश्वास के साथ वहाँ से प्रेम की शिक्षा लेने चल पड़ा।

अब वह जो मिले, उसी से कहे—"मुझे प्रेम करना सिखा दो।"

सब लोग उसे पागल समझ कर हंस देते। वह आगे बढ़ जाता। एक दिन वह एक गाँव में पहुँचा वहाँ उसे एक बुढ़िया मिली। उसने बुढ़िया से कहा—"माँ! मुझे प्रेम करना सिखा दो।"

बुढ़िया ने कहा—"बेटा! मैं प्रेम क्या जानूँ। प्रेम तो राजाओं के यहाँ होता है, तुम राजमहल में चले जाओ सम्भव है, वहाँ तुम्हें कोई प्रेम सिखाने वाला मिल जाय।"

वह प्रेम का इच्छुक सीधा राजमहल में चला गया। उसे देखते ही रानी तथा राजकुमारियाँ कहने लगीं। यह कहाँ से आ गया? तू यहाँ कैसे चला आया। उसने दीनता से कहा—"मैं प्रेम सीखने के लिये भटक रहा हूँ, एक बुढ़िया ने कहा है, राजमहल में तुम्हें प्रेम सिखाने वाली मिल जायँगी, इसीलिये मैं यहाँ चला आया हूँ।"

यह सुनकर सभी ठठाका मारकर हँसने लगीं। उनमें एक राजकुमारी बड़ी बुद्धिमती थी, उसने कहा—"मैं तुम्हें प्रेम करना सिखा दूँगी। मेरी बात मानोगे?"

चरवाहे ने कहा—"अवश्य मानूँगा।"

राजकुमारी ने पूछा—"मैं जो कहूँगी उसे करोगे?"

चरवाहे ने कहा—"अवश्य करूँगा।"

राजकुमारी ने कहा—"अच्छा, तो यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो।" यह सुनकर वह वहाँ रहने लगा।"

एक दिन राजकुमारी ने कहा—"प्रेम की सिखायी कुछ दोगे?"

उसने कहा—"मेरे पास जो भी कुछ है, मैं सब कुछ देने को तत्पर हूँ।"

राजकुमारी ने कहा—पीछे नटोगे तो नहीं?

उसने कहा—"कभी नहीं।"

राजकुमारी ने कहा—"अच्छा, तुम यहाँ मेरे समीप सो जाओ। देखो, इस छूरे से मैं तुम्हारे प्राण लूंगी।"

उसने कहा—"बड़ी प्रसन्नता से ले लीजिये।" और वह अटल विश्वास के साथ सो गया। राजकुमारी ने सचमुच उसके हृदय में छुरी भोंक कर उसकी हत्या करदी। और अपनी दासी से कहा—"इसे एक गड्ढे में डाल कर ऊपर से मिट्टी डाल आओ।"

दासी उसे ले गयी, एक गड्ढे में डाल आई। उसने उसकी जांघ में से थोड़ा सा मांस का टुकड़ा निकाल लिया और एक कसाई के यहाँ जाकर बोली—"यह एक मोटे भेड़ा का मांस है, मुझे भेड़े का मांस अच्छा नहीं लगता, उसके बदले में इतना ही बकरे का मांस दे दो।"

उसने तराजू में रख कर उसके बराबर बकरे का मांस दे दिया। दासी उसे लेकर ज्यों ही बाहर हुई त्यों ही एक सभ्य पुरुष मांस लेने आ गये। उसने कहा—"इस तराजू के मांस को मुझे दे दो।"

कसाई ने दाम लेकर वह मांस उसे दे दिया। उसकी गृहिणी ने मांस के टुकड़े करके उन्हें उबाला। भाफ लगने से उसका हाथ जल गया और वह चिल्लाने लगी। तब बटलोई में से आवाज आई कि प्रेमी तो छुरी देखकर भी नहीं चिल्लाया, तुम तनिक सी भाफ से ही चिल्लाने लगी।"

निर्जीव बटलोई में से ऐसी वाणी सुनकर गृहिणी बहुत डरी। उसने समझा कोई भूत प्रेत बटलोई में बैठ गया है। उसने घर वालों से कहा। बात की बात में वहाँ भीड़ लग गई। सभी आश्चर्य से इस अनहोनी बात को देखते और चकरा जाते। बात

बढ़ते-बढ़ते राजा के कानों तक पहुँची। कुतूहल वश राजा भी वहाँ स्वयं आये। उन्होंने अपने कानों से बटलोई में से प्रेम की ये बातें सुनी।

राजा ने भद्र पुरुष से पूछा—"तुम यह मांस कहाँ से लाये ?"

भद्र पुरुष ने कहा—"अन्नदाता ! मैं तो इसे आज ही अमुक वधिक के यहाँ से क्रय करके लाया हूँ।"

राजा उसे साथ लेकर वधिक के समीप गये। उससे उन्होंने पूछा—"तुमने यह मांस किस पशु को काट कर पाया ?"

वधिक ने कहा—"महाराज ! मुझे तो राजमहल की दासी देकर इसके बदले में बकरे का मांस ले गई है।"

राजा कसाई को लेकर महल में आये। सब दासियों को एकत्रित करके वधिक से पूछा—"इनमें से कौन सी दासी तुम्हें मांस दे आई थी ?"

बधिक ने पहिचान कर दासी को बता दिया। राजा ने उससे पूछा—"तुम्हें यह मांस कहाँ मिला ?"

दासी ने कहा—"मुझे तो राजकुमारी ने एक मनुष्य को मारकर गड्ढे में दबाने को कहा था, उसी का थोडा मांस काटकर मैं ले गयी थी, उसी के बदले बकरे का मांस लाई।"

राजा दासी को लेकर स्वयं उस गड्ढे में गये। उसके मृतक शरीर को निकाला। जहाँ से मांस काटा गया था, उस स्थान पर वे मांस के टुकड़े यथास्थान जमाये। और राजपुत्री से बोले—"तुम शनैः शनैः इसके सम्पूर्ण शरीर पर हाथ फिराओ और इसके ओठों को अपने ओठों से चूमो।"

राजा की आज्ञा पाकर राजकुमारी ने ऐसा ही किया। सबके देखते-देखते वह चरवाहा जीवित उठ बैठा।

राजा ने पूछा—तुम राज महल में कैसे आये ?

उसने कहा—"अन्नदाता ! मैं प्रेम की शिक्षा लेने आया था।"

राजा ने पूछा—तो अब तुम प्रेम करना सीख गये ?

उसने कहा—"हाँ महाराज ! सीख गया, किन्तु प्रेम का मूल्य बहुत अधिक है।"

राजा ने पूछा—प्रेम का मूल्य क्या है ?

चरवाहे ने कहा—"प्रेम का मूल्य श्रद्धा और विश्वास है।"

यह तो घर है प्रेम को, खाला को घर नाहिं।
शीश उतारे भुइँ धरे, तब पैठे घर माहिं॥

जो अपना सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर होगा, वही प्रेम के घर में प्रवेश कर सकेगा। जिसे अपना सुहृद् समझे उसको अपना सर्वस्व सौंप दे। उस पर पूर्ण विश्वास करे कि यह मेरा सदा कल्याण ही करेगा। मेरे साथ कभी अन्याय न करेगा। सदा मेरी मंगल कामना करेगा। तभी उसे परम शांति होगी।"

जब यह चरवाहा उन महात्मा के समीप प्रेम की शिक्षा लेकर गया, तो सब सुनकर महात्मा बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने इसे अपना शिष्य बना लिया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! दृढ़ विश्वास ही एक ऐसी महान् शक्ति है, जो सभी साधनों को सुन्दर मधर बना देती है। इसी का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे है—"अर्जुन ! जब साधक को इस बात का दृढ़ निश्चय हो जाता है, कि हम चाहे, कितने भी यज्ञ करें, कैसे भी घोर से घोर उग्र से उग्र तप करें उन समस्त यज्ञ और तपों का भोक्ता मै वासुदेव ही हूँ। मैं वासुदेव ही इन्द्रलोक, वरुणलोक, यमलोक, कुवेरलोक, चन्द्रलोक तथा समस्त लोकों के ईशों का भी ईश हूँ, मै ही ईश्वरों का ईश्वर महेश्वर हूँ। तथा संसार के समस्त प्राणियों का एक मात्र सुहृद

हूँ। बस इतना ज्ञान हो जाने पर, ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर साधक को परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।"

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! यह प्राणायाम योग तो आपने बहुत ही संक्षेप में सुनाया। मैं इसे विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने कहा—अर्जुन! यह बड़ा ही गूढ़ तथा महान् विषय है, फिर मैं तुम्हें कुछ विस्तार पूर्वक आगे-छटे अध्याय में-सुनाऊँगा। तुम इसे सावधानी से सुनो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संक्षेप में कर्म और संन्यास का निरूपण भगवान् ने किया। कर्म करते हुए भी संन्यास कैसे हो सकता है, यह विषय बताया, इस पंचम अध्याय को कहीं "कर्म संन्यास योग" कहीं केवल "सन्यास योग" कहीं "स्वरूप परिज्ञान योग" नाम से कहा गया है अब छटे अध्याय में भगवान् ने जैसे "आत्मसंयम योग" का वर्णन किया है, उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।

छप्पय

सर्वात्मा सुखसदन सर्वगत मोकूँ मानें।
करि मो पै विश्वास हितैषी अपनो जानें॥
सुहृद-सुहृद के संग कपट कबहूँ न करैगो।
खोलि कुपथ तैं तुरत सुपथ में लाइ धरैगो॥
जो मोकूँ सच्चो सुहृद, धरि निज हिय अपनाइगो।
तो निश्चय साधक सरल, परम शांति कूँ पाइगो॥

ॐ तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवत् गीता उपनिषद जो ब्रह्मविद्या योगशास्त्र है, जो श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद रूप में है, उसमें "कर्म संन्यास योग" नाम का पंचम अध्याय

अथ

पष्ठोऽध्यायः

(६)

कर्मों के फल को त्यागने वाला ही संन्यासी है

[१]

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

पुनि बोले भगवान—कौन संन्यासी अर्जुन।
सुनो, बताऊँ तुम्हें जथारथ तिनिके लच्छन॥
आश्रय तजिकें करम फलनि को बनि निरमानी।
करें करम करतव्य बनैं नहिँ कबहूँ मानी॥
सच्चो संन्यासी यही, योगी अरु विद्वान है।
अग्नि क्रिया तजि बनहिँ जो, अक्रिय नहीं महान है॥

---

* श्री भगवान् कहने लगे—जो पुरुष कर्मों के फल के आश्रित नहीं है और कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही संन्यासी तथा योगी है। केवल अक्रिय और अग्निरयागी संन्यासी नहीं है॥१॥

हे अर्जुन जिसे तुम सन्यास कहते हो, उसी को योग समझो। क्योंकि संकल्पों को न त्यागने वाला कोई भी योगी नहीं हो सकता॥२॥

चतुर्थ अध्याय तक ज्ञान और कर्म दोनों की प्रशंसा सुनकर अर्जुन का रुझान निष्काम कर्मयोग की ओर झुका तब भगवान् से उसने पूछा—"महाराज ! मिली-जुली बात मत करो। मुझे स्पष्ट बताओ कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में मेरे लिये कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है ? तब भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा—तुम्हारे लिये तो भैया-कर्मयोग ही ठीक पड़ेगा। फिर अर्जुन ने पूछा—"तब संन्यास मार्ग का क्या होगा ?

भगवान् ने कहा—"यह संन्यास मार्ग ही तो है। तुम यज्ञ करो, दान करो, तपस्या करो, भगवान् की भक्ति करो, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, सख्य, आत्मनिवेदन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन अष्टांगयोग ये सबके सब कर्म ही हैं। इन कर्मों को करते हुए भी इनके फल की इच्छा न रखना और मुझे ही इन कर्मों का भोक्ता समझकर मुझे अपना सच्चा सुहृद् समझकर फल को मेरे अर्पण करते रहना यही संन्यास का सच्चा स्वरूप है। इतना बताकर भगवान् ने प्राणायाम की बात छेड़ दी। संक्षेप में प्राणायाम कर्म को भी निष्काम भाव से करने को कहा। अब अर्जुन की जिज्ञासा इस अष्टांगयोग के सम्बन्ध में हुई। क्योंकि विषय को निरूपण करने की प्राचीन परिपाटी ऐसी ही है, कि पहिले संक्षेप में उस विषय को सूत्र रूप से कह देना, यदि उसमें श्रोता की जिज्ञासा देखे तो उसका विस्तार करदे। इसलिये षष्ठ अध्याय में उसका आगे विस्तार करेंगे। अब अर्जुन के मन में एक ही द्विविधा रह गयी। प्राचीन ऋषि-महर्षि कर्म को बन्धन का कारण कहते हैं, उपनिषदें संन्यास की प्रशंसा करती हैं, भगवान् कहते हैं, संन्यास और कर्मयोग दोनों एक से मार्ग हैं, दोनों श्रेयस्कर है, फिर भी इनमें संन्यास से कर्मयोग विशिष्ट है श्रेष्ठ है। तो इससे तो सिद्ध हुआ कर्मयोगी की

अपेक्षा संन्यासी हेय है। हम लोग तो अब तक संन्यासी को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे।"

सर्वान्तिर्यामी घट-घट की जानने वाले भगवान् अर्जुन के मनोगत भाव को समझ गये और बिना पूछे अपने ही आप कहने लगे—"अर्जुन! संन्यासी तो सबसे श्रेष्ठ होता ही है।

अर्जुन ने कहा—आप तो पीछे कह आये हैं-"कर्मयोगी विशिष्यत" कर्मयोगी संन्यासी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। तब तो संन्यासी उससे छोटा ही हुआ।

भगवान् ने कहा—"मैं तो संन्यासी को छोटा नहीं बताता। वह तो सर्वश्रेष्ठ है ही।"

अर्जुन ने कहा—कर्म योगी से तो छोटा है ही।" तयोऽस्तु कर्म संन्यासात् कर्म योगी विशिष्यते।" इसका तो मैंने यही अर्थ समझा है, कि जब कर्म योगी और कर्म त्यागी संन्यासी दो हों तो उनमें कर्मयोगी श्रेष्ठ है, संन्यासी उससे छोटा है।"

भगवान् ने कहा—"तुम भली भाँति पूर्ण रीत्या समझे नहीं। कर्मयोगी और कर्म त्यागी संन्यासी में कोई भेद नहीं है। वह निष्काम भाव से कर्म करने वाला निष्काम कर्म योगी भी संन्यासी ही है।

अर्जुन ने कहा—"महाराज, फिर आपने वही संशय वाली दो ओर की बात कह दी। संन्यासी तो वह है, जो काषाय वल्कल वस्त्रों को धारण करे, धातु का स्पर्श न करे, अग्निहोत्र करना छोड़ दे। अग्नि पर अपने लिये अन्न न पकावे। बलिवैश्वदेव यज्ञ न करे। कोई भी कर्म न करे, कर्मों से सदा उदासीन बना रहे। शिखासूत्र का त्याग करदे।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अर्जुन! संन्यास की जो तुम परिभाषा कर रहे हो, इतनी ही परिभाषा नहीं है।

यदि काषाय रंग के वस्त्र पहिनने से ही कोई संन्यासी हो जाता, तो घोड़ों का बहुत-सी भेड़ों का अन्य जन्तुओं का रंग ही लाल होता है, उन्हें तो कोई संन्यासी नहीं कहता। शिखासूत्र तो बहुत यवनादि भी नहीं रखते, वे तो संन्यासी नहीं है। अग्निहोत्र तो पतित भी नहीं करते, उन्हें कोई संन्यासी समझकर नमस्कार नहीं करता। बहुत से पक्षी अपने लिये अन्न नहीं पकाते, जंगल के कंदमूल फलों पर ही निर्वाह करते हैं। बहुत से निर्धन, अपंग आलसी लोग भिक्षा पर ही निर्वाह करते है। वे तो संन्यासी नहीं कहे जाते।"

इस पर अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि फिर संन्यासी कौन है ?

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! सच्चे संन्यासी की व्याख्या करते हुए भगवान् कह रहे हैं—अर्जुन ! जो फल का आश्रय लेकर कर्म करता है, वह तो कर्मी अर्थात् वर्णाश्रमी है। अर्थात् ब्राह्मण को यज्ञ करना ही है। क्षत्रिय है, तो स्वर्ग की कामना से अश्वमेध करे। ये सब आश्रित कर्म हैं। किन्तु कोई आश्रय-फल की इच्छा-न रखकर कर्म करता है कर्म फल अनाश्रित कहलाता है, ऐसा निष्काम कर्म करने वाला व्यक्ति संन्यासी ही है।

अर्जुन ने पूछा—बिना फल की इच्छा के जो भी चाहे कर्म करे। जिस भी भले बुरे कर्म को करना चाहे उसे ही करता रहे तो वह भी संन्यासी है क्या ?

भगवान् ने कहा—नहीं, जो कार्य कर्म है-शास्त्रोक्त कर्म है-उसी को निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति संन्यासी कहलायेगा। और जिसके भीतर तो कामना भरी पड़ी है, ऊपर से काषाय वस्त्र पहिन लिये हैं। घर-घर से भिक्षा माँगते फिरते हैं, कोई पूछता है—बनी बनाई भिक्षा क्यों माँगते हो, तो वे कहते हैं—"संन्यासी को अग्नि छूना निषेध है।" कोई पूछता है—

"यह काठ का कमन्डलु क्यों रखते हो, तो वह कहता है— सन्यासी को धातु का स्पर्श निषेध है। किन्तु बाल वे धातु के उस्तरा से ही बनवाते हैं, जाड़ों में अग्नि से ही तापते हैं, पेट के भीतर जठराग्नि सदा बनी रहती है। इसलिये केवल अग्नि साध्य श्रौत स्मार्त कर्मों को त्यागने वाला, ऊपर से संन्यासियों जैसा वेष बनाने वाला अकर्मी--आलसी कर्म त्यागी पुरुष कभी सन्यासी कहलाने का अधिकारी नहीं। और ऐसा व्यक्ति योगी भी नहीं हो सकता। योगी तो वह है, जिसकी चित्त की प्रवृत्तियाँ निरुद्ध हो गयी हों। बनावटी संन्यासियों की चित्त की वृत्तियाँ तो बिखरी रहती हैं।

अर्जुन ने पूछा—"तब निष्काम कर्म योगी और सन्यासी में अन्तर क्या रहा।"

भगवान् ने कहा कहा—अन्तर कुछ भी नहीं। जिसे संन्यासी कहते हैं, उसी को योगी या निष्काम कर्म योगी भी कहते हैं। दोनों को मनस्थिति समान ही है। ऊपरी चिह्न या केवल कर्मों का त्याग मात्र यही संन्यास नहीं है। संन्यास का मुख्य सम्बन्ध तो मन के संकल्पों से है। मन में तो फलों के लिये संकल्प मचा है, ऊपर से वेष संन्यासी का बना लिया है, तो ऐसा कोई भी पुरुष न संन्यासी कहलाने का अधिकारी और न योगी ही कहलाने का। संन्यास में और निष्काम कर्मयोग में अणुमात्र भी भेद नहीं। क्योंकि दोनों को ही कर्मफल के संकल्प का त्याग करना पड़ेगा। बिना कर्मफलों के त्याग के कोई योगी या संन्यासी नहीं हो सकता।

अर्जुन ने पूछा—फिर निष्काम कर्म योग में और संन्यास में अन्तर क्या है?

भगवान् ने कहा—"अन्तर क्या है, कुछ भी अन्तर नहीं है, तनिक निष्ठा का अन्तर है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् कर्मयोगी और संन्यासी में जो भेद है उसे आगे बतायेंगे। आप इस विषय को सावधानी से श्रवण करें।

छप्पय

योग और संन्यास माहिँ कछु अन्तर नाहीं।
जो पद पावें करम योग संन्यासहु माहीं॥
संकल्पनि को त्याग-त्याग ही सत्य बतायो।
मन संकल्प विकल्प करै कर्मनि बिसरायो॥
संकल्पनि त्यागे बिना, भ्रमत-भ्रमत मरि जायगो।
संन्यासी को वेष धरि, त्यागी नहीं कहायगो॥

निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शान्ति मिलती है

[२]

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

योग माहिँ आरूढ़ होन की इच्छा जाकी ।
ताको कारण करम मनन महँ वृत्ति हु ताकी ॥
करत करत पुनि करम होहिँ आरूढ़ महापद ।
शम पुनि ताको हेतु करम में भयो विशारद ॥
योगारूढ़ भयो जबहिँ, सकल शोक दुख कटि गये ।
योगारूढ़ भये बिना, निरभय कोई नहिँ भये ॥

---

* जो मुनि योगारूढ होने का इच्छुक है, उसके लिये तो कर्म शान्ति का कारण कहा गया है, किन्तु वही जब योग मे आरूढ हो जाता है, तो उसके लिये शम ही कारण बताया है ॥३॥

योगारूढ पुरुष उसे कहते हैं, कि जब वह इन इन्द्रियो के भोगो में और कर्मों में आसक्त नही होता है तथा जो सर्वसंकल्पों का त्यागी बन जाता है ॥४॥

कर्मयोग, ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग या भक्ति मार्ग कल्याण के ये तीन ही मार्ग हैं। कर्मयोग अर्थात् वर्णाश्रम धर्म में कर्मों का अत्यन्त ही आग्रह है। वर्णाश्रमो चतुर्थ आश्रम संन्यास में भी कर्मों का आग्रह है, किन्तु ज्ञानमार्ग में कर्मों का आग्रह नहीं, वहाँ तो त्याग और तितिक्षा का आग्रह है। कर्मों को जितनी भी शीघ्रता से छोड़ सके उतना ही उत्तम है। ज्ञानमार्ग में जो कर्म किये जाते है, वे केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिये। वहाँ कर्म साध्य नहीं, साध्य तो त्याग, तितिक्षा अर्थात् संन्यास ही है। उसे प्राप्त करने को कर्म साधन मात्र हैं। जसे धान को कूटते हैं, तो वहाँ धान का चूर्ण बनाना लक्ष्य नहीं। लक्ष तो चावल निकालना है, किन्तु बिना धान का चूरा किये उसके भीतर से चावल निकलेगा नहीं। जिस समय सब चावल निकल आये उस समय भूसी को फेंक देते हैं, उसका फिर कोई प्रयोजन नही। इसी प्रकार ज्ञानमार्गीय लोग अन्तःकरण की शुद्धि पर्यन्त कर्म करते हैं। जहाँ अन्तःकरण शुद्ध हुआ नहीं, कि वे लौकिक वैदिक अग्निहोत्र आदि सभी कर्मों का स्वरूप से त्याग कर देते हैं। किन्तु निष्काम कर्मयोगी या भगवत्‌भक्त स्वरूपतः कर्मत्याग पर बल नहीं देते। वे तो ज्ञान हो जाने पर भी–अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर भी–कर्म करते रहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है, कि जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, संसारी किसी प्रकार की वासना ही न रही, इन्द्रियों द्वारा विषयों के भोगने की अभिलाषा ही न रही, तो फिर वे कर्म करने में क्यों चिपटे रहते है, उन्हें कर्म करने की फिर आवश्यक्ता ही क्या रही? इसका उत्तर यही है, कि वे कर्म आनन्द के लिये करते हैं, परमानन्द मग्न होकर करते हैं।

जैसे प्रेम मार्गीय प्रेम की प्राप्ति का प्रेम को ही साधन मानते हैं, प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन है। प्रेम की प्राप्ति

के लिये वे साधन रूप से प्रेम को ही करते हैं। जैसे छोटी लड़कियाँ प्रेम सीखने के लिये पहिले गुड्डा-गुड़ियों से खेलती हैं। मेरा गुड्डा बड़ा हो गया, एक गुड़िया के साथ इसका विवाह कर दो। आपस में एक लड़की गुड़िया के घर वाले बनते हैं। गुड्डा वाली लड़की बड़ी धूमधाम से बरात लाती है, विवाह होता है, भोज होता है। गुड़िया की विदायी होती है, सब रोती है, गुड्डा-गुड़िया को लाते हैं, उसके बच्चे होते हैं। उन गुड्डा-गुड़ियों को वे बड़ी ममता से रखती हैं, उनमें उनकी पूरी आसक्ति होती है, सियानी हो जाने पर वह स्वयं गुड़िया बन जाती है। पति रूपी गुड्डा के साथ चली जाती है, उसके भी बाल-बच्चे हो जाते हैं। पहिले वह खेल साधन रूप में था, फिर वही खेल साध्य बन जाता है।

यही बात निष्काम कर्मयोग योग या भक्ति मार्ग में है। पहिले तो शान्ति पाने की लालसा से बिना किसी संसारी कामना के निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्तव्य कर्मों को आग्रह पूर्वक करते हैं। जब निष्काम भाव से–बिना किसी सांसारी फल की कामना के–वे कर्म करते रहते है, तो उन्हें अन्तःकरण की शान्ति प्राप्त हो जाती है, फिर वही अन्तःकरण की शान्ति उन्हें पुनः कर्म में प्रवृत्त करती है। जब वे साधक थे तब तो अन्तःकरण की शांति को साध्य मानकर बिना फल की इच्छा से कर्म करते थे। जब निष्काम कर्मों द्वारा अन्तःकरण की शान्ति मिल गयी, तब अपने अन्तःकरण की शान्ति के निमित्त वे कर्म करते हैं। अब कर्म साध्य हो गया। अतःकरण की शान्ति या शाम साधन बन गया।

अब प्रश्न यह उठता है, कि जिसे अन्तःकरण की शान्ति ही मिल गयी, फिर वह शान्ति के लिये कर्म क्यों करेगा। उसके मन

में तो अशान्ति है ही नहीं। अशान्ति तो विषय भोगों की लालसा से होती है। शम को प्राप्त योगारूढ़ पुरुष को तो किसी प्रकार की अशान्ति है ही नहीं। फिर उसका शान्ति को साधन बनाकर कर्म करना सर्वथा व्यर्थ है। जब योग में आरूढ़ पुरुष को कोई अशान्ति है ही नहीं। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—योगारूढ़ पुरुष को भी एक प्रकार की अशान्ति या दुःखानुभूति होती है। उसे भागवतकार "चित्ततोद" कहते हैं। बहुत से जीवन्मुक्त पुरुष सभी प्रकार के दुःखों से विमुक्त बन जाते हैं, किन्तु जब वे संसारी लोगों को अविद्या के जाल में फँसे देखकर–नानाक्लेशों को सहते हुए निहारते हैं, तो दयावश उनके हृदय में एक प्रकार की मीठी-मीठी टीस उत्पन्न हो जाती है। 'हाय' ये जीव भगवत् प्राप्ति के इतने साधनों के रहते हुए भी–परमशान्ति के अनेकों उपायों के विद्यमान रहते हुए भी–मोह ममता वश इतने क्लेश क्यों सह रहे हैं। इसी को "चित्ततोद" कहते हैं। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर वे जीवों के उद्धार हेतु नैष्कर्म्य स्थिति तो प्राप्त होने पर भी कर्म करते हैं, और उन कर्मों को करने से उनका चित्ततोद कम होता है, उन्हें परमशान्ति मिलती है। अतः साधनावस्था में जो अन्तः-करण की शान्ति के निमित्त किये गये थे। अब अन्तःकरण की शान्ति हो जाने पर वे कर्म साधन न रहकर साध्य बन गये। इसीलिये जीवों के कल्याणार्थ वे कर्म करते हुए भी परमशान्ति का अनुभव करते हैं। ऐसे योगारूढ़ पुरुष कारक कहलाते हैं।

... कारकों की तो बात छोड़ दो। असाधुओं द्वारा साधुओं को सताये जाने पर स्वयं साक्षात् निर्गुण निराकार भगवान् भी सगुण–साकार बनकर लोकहित की दृष्टि से–धर्म की संस्थापना के निमित्त विविध भाँति के कर्म करते हैं। अतः जैसे भगवान् धर्म संस्थापनार्थ लोककल्याण के लिये नाना योनियों में अवतार

धारण करके कर्म करते हैं, वैसे ही निष्काम कर्मयोगी योगारूढ़-कारक पुरुष भी अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने के अनन्तर-परम शान्ति के प्राप्त होने के पश्चात् भी कर्म करते हुए देखे गये हैं। यही उनमें वर्णाश्रमी कर्मयोगी और ज्ञानमार्गी संन्यासियों से विशेषता है। भगवान् ने अर्जुन को श्रीमद्भगवत्गीता में निष्काम कर्मयोग या भक्तियोग का ही प्रधानता में उपदेश दिया है, इसी लिये योगारूढ़ को अन्तःकरण की शान्ति का कर्म को साध्य बताया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कहा—"सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति" जो मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद् समझ लेता है, उसे शान्ति प्राप्त हो जाती है, यह बात कही, तब अर्जुन के मन में यह जिज्ञासा हुई, कि शान्ति प्राप्त हो जाने पर तो निष्काम कर्मयोगी भगवत्पूजन, यज्ञयागादि दान धर्म आदि शुभ कर्मों को छोड़ देता होगा, तब भगवान् ने कहा—नहीं, निष्काम कर्मयोगी संन्यासी कर्म करता ही रहता है, योगारूढ़ होने पर भी वह कर्म करता रहता है उसके संन्यासी-पने में तनिक भी आँच नहीं आती। इस पर अर्जुन ने पूछा—योगारूढ़ योगी के कर्मों में और साधक के कर्मों में कोई अन्तर होता है?

भगवान् ने कहा—"हाँ, अन्तर हो जाता है। जो मननशील व्यक्ति अन्तःकरण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्मयोग में आरूढ़ होना चाहता है, उसके लिये कर्म साधन है। वही जब योगारूढ़ हो जाता है-अन्तःकरण की शान्ति उसे प्राप्त हो जाती है तो वही शम-अर्थात् अन्तःकरण की शान्ति उसके लिये कर्म का कारण बन जाती है।"

अर्जुन ने पूछा—अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर 'शम' कारण कैसे हो जाता है ?

भगवान् ने कहा—"देखो, अशान्ति का कारण है आसक्ति। जब प्राणी इन्द्रियों के जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी भोग हैं उनमें आसक्त हो जाता है, उन्हें प्राप्ति के निमित्त कर्मों में आसक्त हो जाता है, तभी उसे शान्ति होती है।"

अर्जुन ने पूछा—तो क्या योगारूढ़ पुरुष को अशान्ति नहीं होती ?

भगवान् ने कहा—"नहीं, कभी नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"तब योगारूढ़ पुरुष के लक्षण क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा—"जो इन्द्रियों के अर्थों में तथा कर्मों में–करते हुए भी–आसक्त नहीं होता है। वह किसी संकल्प से कर्म नहीं करता। क्योंकि उसने मनसे सभी संकल्पों का–भली-भाँति न्यास–परित्याग कर दिया है। ऐसे ही व्यक्ति को योगारूढ़ कहते हैं। भले ही वह चित्तनोद के कारण–भगवान् की भाँति कर्मों को करता ही रहता है, फिर भी वह संकल्प संन्यासी–निष्कर्म योगी—पुरुष विद्वानों द्वारा योगारूढ़ ही कहा गया है।"

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! ऐसे पुरुष का उद्धार कौन करता है ?

भगवान् ने कहा—सर्वान्तर्यामी आत्मस्वरूप जो मैं सबके घटघट में बैठा हूँ, वही मै ऐसे लोगों का उद्धार करता हूँ। इसके लिये श्रद्धा, भक्ति, दृढ़ता तथा निष्ठा की आवश्यकता है।

अर्जुन ने पूछा—"कैसी निष्ठा चाहिये भगवन् !"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने निष्ठा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् ने जो उसका उत्तर दिया, उसे मैं आगे आपको बताऊँगा।

छप्पय

इन्द्रिनि के जो भोग वही आसक्ति करावें।
यदि जावे आसक्ति करम में तब लगि जावें॥
भोगनि में आसक्ति न होवे करमनि में जब।
अनासक्त बनि गये भये योगी समुझो तब॥
सरब करम संकल्प कूँ, तजि फल आशा जे करहिँ।
ऐसे फल त्यागी पुरुष, योगारूढ़ तिन्हें कहहिँ॥

अपनी आत्मा ही शत्रु तथा मित्र है

[३]

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मनाजितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥*
(श्री भग० गा० ६ अ० ५, ६ श्लो०)

छप्पय

सुख दुख अन्य न देहिँ स्वयं ही जगत बनावै ।
करै कामना सहित करम बन्धन बँधि जावै ॥
यह संसार-समुद्र स्वयं उद्धार करावै ।
स्वयं उच्चपद प्राप्त करै नीचे न गिरावै ॥
यह अपनो ही आतमा, स्वयं आपनो मित्र है ।
करै काज अन्याय के, फिर अपनो ही शत्रु है ॥

---

* अपने आप से ही अपना उद्धार करे । अपने आपको नीचा न गिरावें । क्योंकि अपनी आत्मा ही अपना बन्धु है और अपनी आत्मा ही अपना शत्रु है ॥५॥

जिसने अपनी आत्मा से आत्मा को जीत लिया है, वह अपनी आत्मा का आप ही बन्धु है और जिसने अपनी आत्मा से आत्मा को नहीं जीता, वह अपने आप ही शत्रु के समान शत्रुता में बर्ताव करता है ॥६॥

यह जीव चौरासी लाख योनियों में न जाने कबसे भटक रहा है। कुछ लोगों का तो कहना है, भगवान् जिसका उद्धार करना चाहते हैं, उससे शुभ कार्य कराते हैं, जिसका अधः पतन करना चाहते हैं, उससे दुष्कर्म कराते हैं। किन्हीं का कहना है, जैसा प्रारब्ध होता है, वैसे ही कर्म होने लगते हैं। कोई कहते हैं—भाई, प्रारब्ध कहाँ से आया। वह भी तो तुम्हारे कर्मों के द्वारा ही निर्मित हुआ है, अतः कर्म ही प्रधान है। कोई कहते हैं, जिसकी आरम्भ से ही जैसी प्रकृति होती है वह वैसे ही कार्य करने लगता है। कोई कर्ता को सर्वथा कार्य करने में स्वतन्त्र मानते हैं, कोई कहते हैं, कर्ता सर्वथा परतन्त्र है। उसे तो ईश्वर जैसे घुमाता है, वैसे घूमता है, वह तो ईश्वर के हाथ की कठ-पुतली है।

इनमें से कौन मत ग्राह्य है और कौन अग्राह्य इसे बताना बहुत ही कठिन है, फिर भी अन्य भोग योनि वाले जीव भले ही सर्वथा परतन्त्र हों, किन्तु जो यह साधक पुरुष है, इसे संकल्प करने की कुछ थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता है। यदि ऐसा मानकर न चलें तब तो शास्त्र के सभी उपदेश व्यर्थ हो जायँगे। शास्त्र की विधि निषेध की फिर संगति कैसे बैठेगी? शास्त्र कहता है, यह काम करना चाहिये यह नहीं करना चाहिये भगवान् भी गीता में बार-बार कहते हैं—"जहि शत्रुं महाबाहो" हे विशाल भुजावाले अर्जुन! इस दुष्ट काम को तुम मार डालो।" "तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्यभरतर्षभ" हे भरतकुलभूषण! इसलिये पहिले तुम इन्द्रियों का नियमन-संयम-करो।" 'तस्मादेतत् त्रयंत्यजेत्' इसलिये तुम काम, क्रोध और लोभ इन तीन शत्रुओं को मार डालो।"

यदि साधक मनुष्य सर्वथा कठपुतली ही होता तो इन विधि-

वाक्यों की आवश्यकता ही न होती। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रारब्ध कर्मों वाली बात तो ठीक ही है, देह प्रारब्ध से ही मिलता है। दुख-सुख भी पूर्वकृत पुण्य-पापों द्वारा ही प्राप्त होते हैं। बुद्धि भी जैसी भवितव्यता होने को होती है वैसी ही बन जाती है। जीव सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। इतना सब होने पर भी संकल्प करने में जीव को कुछ स्वाधीनता अवश्य है। साधकों को ऐसा ही मानकर साधनों में प्रवृत्त होना चाहिये। एक भक्त ने भगवान् से प्रार्थना की—मैं चाहे स्वर्ग में रहूँ या नरक अथवा भूमि पर जैसे भी मेरे कर्म हों, जैसा भी मेरा प्रारब्ध हो। इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। मेरी प्रार्थना तो इतनी है, कि मरते समय मुझे आपके चरणारविन्दों का चिन्तन प्राप्त हो जाय।" *यहाँ प्रारब्ध कर्मों को मानते हुए भी प्रार्थना करने में* अपनी स्वतन्त्रता अनुभव की।

एक भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है जो भक्त आपकी कृपा की निरन्तर प्रतीक्षा करता रहता है, और प्रारब्धवश जो भी सुख-दुख आ जाता है उसे बिना ननुनच के समभाव से भोगता रहता है, और हृदय, वाणी तथा शरीर से नमस्कार करता रहता है, जो जैसा जीवन व्यतीत करता है, वह मुक्ति पद का उत्तराधिकारी बनता है। इसमें प्रारब्ध कर्मों द्वारा सुख-दुख मिलता है इसे मानते हुए भी मन से, वाणी से तथा देह से प्रणाम करने की स्वतन्त्रता स्वीकार की है। जय विजय को जब सनकादि कुमारों ने आसुरी योनि में जाने का शाप दिया तो उन्होंने भी यही प्रार्थना की—"हमें चाहे जैसी आसुरी योनियाँ प्राप्त हों, किन्तु हमारा मन-मधुप निरन्तर भगवान् के चरणारविन्दों के ही मकरन्द पान में मत्त बना रहे; हमें भगवत्-विस्मृति न हो।" इन सभी उद्धरणों से यही प्रतीत होता

है, कि साधक को शुभ-अशुभ संकल्प करने की—या स्तुति प्रार्थना विनय करने की कुछ न कुछ स्वतन्त्रता अवश्य रहती है।

व्याकरण शास्त्र वाले तो कर्ता को सर्वथा स्वतन्त्र मानते ही हैं। कर्म तथा ज्ञानमार्गीय भी साधनावस्था में स्वतन्त्रता मानकर ही साधन करने का कर्म करने का उपदेश देते हैं। यहाँ श्रीमद्भगवत्गीता में भी भगवान् ने अर्जुन को अपने आपको ही अपना शत्रु और अपने आपको ही अपना मित्र बताकर अंत में कहा है, अपने से ही अपना उद्धार करना चाहिये। अर्थात् सदा सर्वदा भगवान् की कृपा पर भरोसा रखकर शुभकर्मों में लगे ही रहना चाहिये। जो कर्तव्य कर्म समझकर सदा साधनों में संलग्न रहता है, उसका अवश्य ही उद्धार हो जाता है। इसलिये कर्तव्य कर्मों से कभी विमुख नहीं होना चाहिये। जो साहस के साथ सदा कर्तव्य कर्मों में लगा रहता है, परमात्मा भी उसी की सहायता करता है। जो निद्रा में, आलस्य में तथा प्रमाद में पड़ा रहता है और यह कहकर कर्तव्य से विमुख हो जाता है, कि जो होना होगा वह हो ही जायगा, हम व्यर्थ में श्रम क्यों करें? ऐसी वृत्ति वाला साधक कभी भी अपनी साध्य-वस्तु को प्राप्त नहीं हो सकता। वह कभी भी अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच सकता। अतः आत्म उद्धार के निमित्त साधक को कमर कसके, दृढ़ता के साथ कटिबन्ध बाँधकर सुखमय सुन्दर साधनों में सदा लगे ही रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने योगारूढ पुरुष का लक्षण बताते हुए यह कहा कि योगारूढ़ पुरुष सर्व सकल्प संन्यासी होता है, तब अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगारूढ पुरुष इस अनर्थ समुदाय रूप संसार सागर से अपना उद्धार कैसे कर लेता है। इस पर भगवान् कह रहे हैं—"अर्जुन! यह

संसार अगाध समुद्र के समान है। जीव इसमें भटक रहा है, जो इस संसार सागर से उद्धार कर लेता है, इसमें डूब नहीं जाता अपितु उस पार लग जाता है, वही बुद्धिमान है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! इस संसार सागर से पार कैसे हों?"

भगवान् ने कहा—अपने आपे से ही अपनी आत्मा का स्वयं ही उद्धार करे।

अर्जुन ने पूछा—अपने से अपना उद्धार कैसे होता है?

भगवान् ने कहा—"देखो, आत्मा शब्द के बहुत अर्थ हैं। यह 'आत्मा' अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। शरीर को भी कहीं-कहीं आत्मा कहा गया है। इन्द्रियों को, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को, जीवात्मा तथा परमात्मा को भी आत्मा कहा गया है। अतः अपनी आत्मा से आत्मा का उद्धार करे, इसका अर्थ यह हुआ कि विवेकयुक्त अन्तःकरण से अपने आपका अर्थात् जीवात्मा का उद्धार करे, उसे संसार सागर में डूबने न दे। यह साधक शरीर ऐसा है, कि चाहे तो अपने को डुबा भी सकता है और चाहे तो उबार भी सकता है। क्योंकि अपना आपा ही अपना बन्धु भी है और शत्रु भी है।"

अर्जुन ने पूछा—"अपना आपा ही अपना शत्रु कैसे है?"

भगवान् ने कहा—"देखो, यह संसार कार्यकरण का संहात है। जिसने आलस्य के वशीभूत होकर अविवेक से इस संसार को जीता नहीं अर्थात् पार नहीं किया वही मानों अपने आप ही अपना शत्रु है।"

अर्जुन ने पूछा—"अपना आपा ही अपना मित्र किस प्रकार है?"

भगवान् ने कहा—"जिसने विवेक बुद्धि से, अपनी बुद्धि को

अत्यन्त ही सूक्ष्म बनाकर उसके द्वारा इस कार्यकरण संघात रूप देह को जीत लिया वही आत्मा अपना सगा बन्धु है। संसार की प्रवृत्तियाँ तो उच्छृङ्खल हैं, उन कुप्रवृत्तियों को रोककर–मन को साधन की ओर लगाया है उसी ने अपने बन्धुपने का कार्य किया।

अर्जुन ने पूछा—जितात्मा पुरुष अपना बन्धु किस प्रकार है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जितात्मा अपना बन्धु क्यों है इसे स्पष्ट करते हुए समभाव में स्थित कर्मयोगी का जो लक्षण बताया, उसे मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब ऋषिगण इस अत्यन्त गूढ़ रहस्य को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

कैसे आत्मा शत्रु मित्र है तोइ बताऊँ।
हौं जैसो ई करूँ अन्त में सो बनि जाऊँ॥
जा आत्मा तैं सबहिँ इन्द्रि मन जीत्यो जावै।
त्या आत्मा को स्वयं आतमा मित्र कहावै॥
जाते जीते नहिँ गये, मन अरु इन्द्रिय देह हैं।
जीवात्मा के वे अधम, शत्रु, नहीं संदेह हैं॥

युक्त योगी के लक्षण

[४]

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥❀
(श्री भा० गी० ६ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

जिनिको अंतःकरन शीत अरु उष्ण समाना ।
जो दोउनि में शान्त मान हो वा अपमाना ॥
सरदी गरमी परै रहैं सम भाव अवस्थित ।
मान होहि अपमान न होवैं कबहूँ विचलित ॥
वही जितात्मा शान्त अति, ब्रह्म-भाव में लीन हैं ।
परमात्मा में अवस्थित, ज्ञानी परम प्रवीन हैं ॥

❀ जो जितात्मा है, प्रशान्त है और जिसके भीतर परमात्मा भली प्रकार अवस्थित है, ऐसे पुरुष को शीत और उष्ण, सुख और दुःख तथा मान और अपमान समान हैं ॥६॥

जिसकी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है। जो कूटस्थ ब्रह्म में स्थित है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण समान हैं उसी को युक्तयोगी कहते हैं ॥७॥

सबमें समभाव रखना यही सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर की सर्वश्रेष्ठ आराधना है। यह जगत् क्या है जड़ चेतन का संहात मात्र है। असत्य, अज्ञान, माया, द्वन्द्व तथा सीमित ममता और सत्य, ज्ञान तथा अनन्त का संमिश्रण है। वास्तव में तो एक ही परमात्मा हैं, जो अनेक रूपों में दिखायी दे रहे हैं। प्रकाश हो चैतन्य है, तम या अन्धकार ही जड़ है, जिसमें चैतन्यांश जितनी ही अधिक मात्रा में होगा, उतना ही वहाँ प्रकाश प्रतीत होगा। अज्ञान ने ज्ञान को आवृत कर रखा है, कुहरे ने सूर्य को छिपा रखा है, बादलों के छा जाने से पूर्णिमा के चन्द्रमा की चाँदनी दृष्टिगोचर नहीं होती। हम एक भवन में बैठे हैं, वह भवन चारों ओर से मिट्टी पत्थर की दिवाल से घिरा है। इससे न तो बाहर के लोग हमें ही देख सकते हैं। और न हम ही बाहर वालों को देख सकते हैं। देखने की शक्ति बाहर वालो में भी है और हम भीतर वालों में भी है, किन्तु बीच में दीवाल का अन्तराय जो पड़ गया है। उसकी जड़ता के कारण अप्रकाश बीच में आ गया है। यदि दीवाल न होकर बीच में स्वच्छ काच की दीवाल होती, तो बाहर के लोग हमें भी देख सकते और हम भी बाहर के लोगों को देखने में समर्थ होते। कारण कि शीशा मृत्तिका या पाषाण की दीवाल से अधिक स्वच्छ तथा निर्मल है। निर्मलता के कारण वह दीवाल की भाँति दृष्टि का अवरोधक नहीं बनता।

जड़ और चैतन्य के संमिश्रण के कारण विषमता हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के नाम और रूप प्रतीत होने लगते हैं। जैसे सुवर्ण एक ही है, उसके नाना आभूषण बन गये हैं, मृत्तिका एक ही उसके नानाप्रकार के पात्र बन गये हैं, चीनी एक ही है, उसके भिन्न-भिन्न आकृति और भिन्न-भिन्न नाम वाले खिलौने बन गये हैं। जो अज्ञानी हैं, वे देखते हुए भी कि ये सब खिलौने चीनी के

ही हैं, फिर भी उनमें भिन्नता देखते हैं। बच्चे परस्पर में लड़ते हैं-"तुमने मेरा हाथी क्यों ले लिया।" यह घोड़ा तुम्हारा है, यह ऊंट उसका है वास्तव में देखा जाय, तो न हाथी है, न घोड़ा है न ऊँट तथा बछेड़ा है, सब चीनी ही चीनी है। इसलिये विद्वान् लोग योगी लोग सब में समभाव रखते हैं। वे नाम तथा रूप के भुलावे में न आकर सर्वत्र-सभी खिलौनों में एकमात्र चीनी को ही देखते हैं। सम बुद्धि हो जाने पर विषमता नष्ट हो जाती है।

महाराज रन्तिदेव के चरित्र में आता है। कि ४८ दिन के भूखे-प्यासे थे सकुटुम्ब। ४९ वें दिन घड़ा भर के जल, खीर, मालपूआ हलुआ आदि स्वादिष्ट व्यंजन मिले। वे ज्योंही सबको बाँटकर खाने बैठे त्योंही एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। बड़े प्रेम से उसे भोजन कराया। बचे अन्न को ज्योंही खाने बैठे कि फिर एक शूद्र आ गया। उसे भी भर पेट भोजन कराया। फिर जो बचा उसे खाने बैठे तो कुत्तों को लिये हुए अघोरी आ गया। उसे भी बिना भेदभाव विषम दृष्टि के बिना, कुत्तों के सहित भोजन कराया। भोजन तो सब समाप्त हो गया। केवल जल बचा था, इतने में एक चांडाल आ गया। वह जल उसे पिला दिया। कैसी भारी समता है, सबमें अपने प्रभु को ही देखना "शुनिचैवश्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।"

एक महात्मा रामेश्वरजी पर जल चढ़ाने गंगोत्री का गंगाजल ले जा रहे थे। मार्ग में एक अत्यन्त प्यासा गधा मिला। उसी को रामेश्वर समझकर गंगाजल उसे पिल दिया। सर्वान्तर्यामी रामेश्वरजी ने गधे के रूप में ही उसे स्वीकार कर लिया।

एक महात्मा रोटी बना रहे थे—उनकी रोटी को कुत्ता लेकर भागने लगा और वे घृत का पात्र लेकर उसके पीछे दौड़े— "प्रभो! रूखी कैसे खाओगे। तनिक चुपड़ तो लेने दो।" कुत्ते

में भी ईश्वर को देखने वाले सन्त को भगवान् ने उसी रूप में दर्शन दिये।

एक महात्मा ने किसी संत को पारस पत्थर लाकर दिया। उन्होंने उसे यमुनाजी में फेंक दिया। उसने आकर अपना पारस माँगा, तो महात्मा ने कहा—"मैंने तो पत्थरों में पत्थर फेंक दिया।"

यह सुनकर वह लड़ने लगा। पारस पत्थर अन्य पत्थरों के समान कैसे हो सकता है, उससे तो लोहा सुवर्ण बन जाता है। "अन्य पत्थरो से तो लोहा सोना नहीं बन सकता।

महात्मा ने यमुना जी में बुडकी लगा कर बहुत से पत्थर निकाले। वह आदमी जिस पत्थर से लोहा छुवाता वही स्वर्ण हो जाता। सुवर्ण में पाषाण में पारस में ऐसी समदृष्टि देखकर वह आश्चर्य चकित होकर उन महात्मा के शरणापन्न हुआ। समता की सिद्धि में कुछ भी असम्भव नहीं है।

एक महात्मा एक हाथ में मिट्टी लेते दूसरे हाथ में सुवर्ण की एक मुहर लेते और फिर मन से पूछते—"मन! किसमें सोना है, किसमें मिट्टी?" मन में तो भेद भाव होता ही है, भेद भाव को मिटाने को वे दोनों को मिलाकर गङ्गा जी में फेंक देते। ऐसा वे तब तक करते रहे जब तक मन से सुवर्ण और मिट्टी का भेद भाव नहीं गया।

एक भक्त दम्पत्ति वन में लकड़ी लेने जा रहे थे। पति का नाम रांका था। पत्नी पीछे थी पति थोड़े आगे-आगे जा रहे थे। पति को एक सुवर्ण के सिक्कों से भरी थैली दिखाई दी। उनके मन में तो लोभ था नहीं। परन्तु उन्होंने सोचा—"सम्भव है, इन्हें देखकर मेरी पत्नी के मन में लोभ आ जाय, अतः वे उस थैली को धूल से ढकने लगे, कि मेरी पत्नी की दृष्टि इस पर न पड़े।"

इतने में ही उनकी पत्नी समीप आ गयी और बोली—"आप यह क्या कर रहे हैं ?"

पति ने सच-सच बात बता दी। कहा—मेरे मन में यह आया, कि कहीं तुम लोभ वश इसे उठा न लो, इसलिये मिट्टी से इसे ढक रहा था।

पत्नी ने कहा—"मिट्टी को मिट्टी से ही ढकने से क्या लाभ ? वह भी तो एक चमकती हुई पीली मिट्टी ही है।"

प्रसन्न होकर पति ने कहा—देवि ! तुम्हारी समता तो मुझसे भी ऊँची है, मुझे तो सुवर्ण में और मिट्टी में भेद भाव दिखायी दिया, तभी तो उसे ढक रहा था, किन्तु तुम तो दोनों को एक ही समझती हो। अतः तुम मुझसे भी बांका हो। वे दम्पति भक्त रांका बांका नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस प्रकार जिन साधकों की समदृष्टि हो गयी है, वे सभी में अपने स्वामी को ही देखते हैं। जो ज्ञान निष्ठा वाले हैं, वे सब को और अपने को भी ब्रह्म रूप में ही मानते है, वे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"।

किन्तु जो भक्त हैं, वे भी सब में अपने भगवान् को देखते हैं। चराचर में अपने ही स्वामी का रूप निहारते हैं, किन्तु एक मात्र अपने को चराचर ब्रह्मरूप भगवान् का दास समझते हैं। केवल अकेला मैं ही सबका दास हूँ और सब चर-अचर, स्थावर-जंगम, जड़-चैतन्य मेरे प्रभु के ही रूप हैं। समस्त जगत् ही सिया राममय है। "केवल मैं ही दासोऽहं, दासोऽहम्" सब का दास हूँ। ज्ञानी उसमें दा को हटा कर सोऽहं-सोऽहं कहते हैं। दोनों की अन्तिम निष्ठा एक ही समभाव की है। अतः जिसे भगवान् की

यथार्थ आराधना करनी हो, सच्ची उपासना करनी हो, उसे सब भूतों में समभाव रखने की चेष्ठा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब अर्जुन ने युक्तयोगी के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान् उसे समझाते हुए कहने लगे—"अर्जुन! जो जितात्मा हो गया है, वास्तव में वही अपने आपका बन्धु है। ऐसा जितात्मा पुरुष निर्द्वंद्व हो जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—"निर्द्वंद्व क्या भगवन्!"

भगवान् ने कहा—उसका द्वंधीभाव छूट जाता है वह शीत तथा उष्ण में, सुख और दुःख में अथवा मान तथा अपमान में सदा एक सा ही बना रहता है। शीत लग रहा है तब भी वैसे ही हैं, घोर गर्मी पड़ रही है तब भी ऐसे ही हैं। संसारी लोग जिसे सुख मानते हैं, उसमें भी वे आनन्दमग्न हैं और जिसे सब दुःख कहते हैं उसमें भी दुखी नहीं होते। प्रारब्ध भोग समझकर सुख-दुख दोनों को ही समान भाव से सहन कर लेते हैं। इसी प्रकार मान अपमान में भी उनकी समता नष्ट नहीं होती। उसी प्रशांत-पुरुष का अपना आपा परमात्मा में लगता है अर्थात् उसे मन की एकाग्रता रूपी समाधि में परमात्म स्वरूप का प्रकाश प्रतीत होता है।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे निष्काम कर्मयोगी के अन्तःकरण की स्थिति कैसी होती है?"

भगवान् ने कहा—उसका अन्तःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त रहता है। उसे किसी भी वस्तु के अभाव का अनुभव नहीं होता। वह अपनी समस्त इन्द्रियों को जीतकर अपने वश में कर लेता है। वह कूट जो ब्रह्म है उसमें सदा स्थित रहता है तथा मिट्टी और कांचन में उसका समभाव हो जाता है। उसका भेदभाव नष्ट हो जाता है। वह सब भूतों में एक आत्मा को ही देखता

पर ही स्थित है। सर्वथा समता का
न है। सबकी मुखाकृति एकसी नहीं
र अवश्य होगा। सबकी आकृति, प्रकृति,
हार, हस्ताक्षर, हाथ की रेखायें समान
स्तुओं में कुछ न कुछ भिन्नता रहती ही
तरह के पुरुष होते हैं, मित्र, शत्रु या
ोग आपका उपकार करने वाले-शुभ-
ेष करने वाले। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो
हैं उन्हें उदासीन कहते हैं। शुभचिन्तकों
द् मित्र और बन्धु बान्धव सम्बन्धी।
जिनका हृदय विशुद्ध हो, जिनका स्वभाव
बन गया हो, जो परोपकार किये बिना
बिना किसी परिचय के बिना किसी
उपकार करें उन्हें सुहृद् कहते है। एक
माता आग लगे घर से भागकर बाहर
ा भीतर रह गया है। उसका साहस नहीं
कर बच्चे को ले आवे। वह रो रही है।
ही कोई दयालु पुरुष आ गये, अपने
ा न करके जलते घर में घुस गये। लड़के
उनका शरीर जल गया था, किन्तु बच्चे
उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। उनका यह

ा है, कोई सहृदय पुरुष तुरन्त कूद पड़ते
ा हैं। सब उनकी सुहृदता की प्रशंसा

अपनी गाड़ी में बैठकर राजभवन जा

योगी का परम कर्त्तव्य

[५]

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥❀
(श्री० भग० गी० ६ अ० ६, १० श्लो०)

छप्पय

चाहें होवै सुहृद सख्यो सम्बन्धी भाई ।
चाहें होवै मित्र आयु जिहि संग बिताई ॥
उदासीन जो होहिं शत्रुता चाहें मानें ।
चाहें द्वेषी होहिं हमें ढोंगी करि जानें ॥
बन्धु होहिं मध्यस्थ वा, धरमात्मा पापी रहें ।
सब में राखै भाव सम, श्रेष्ठ पुरुष तिनिकूँ कहें ॥

❀ जिसकी सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में तथा साधुओं और पापियों में समान बुद्धि है, वही विशिष्ट पुरुष है ॥६॥

वही चित्तात्मा योगी आशा रहित और अपरिग्रही बनकर अकेला ही एकान्त में रहकर निरन्तर आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगावे ॥१०॥

यह संसार विषमता पर ही स्थित है। सर्वथा समता का मिलना अत्यन्त ही कठिन है। सबकी मुखाकृति एकसी नहीं होगी, कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होगा। सबकी आकृति, प्रकृति, रहन महन, भोजन व्यवहार, हस्ताक्षर, हाथ की रेखायें समान नहीं हो सकती। सब वस्तुओं में कुछ न कुछ भिन्नता रहती ही है। संसार में तीन ही तरह के पुरुष होते है, मित्र, शत्रु या उदासीन या तो कुछ लोग आपका उपकार करने वाले-शुभचिन्तक होंगे, या आपसे द्वेष करने वाले। कुछ लोग ऐसे होते है, जो न मित्र हैं न शत्रु तटस्थ है उन्हें उदासीन कहते हैं। शुभचिन्तकों के भी तीन भेद हैं। सुहृद् मित्र और बन्धु बान्धव सम्बन्धी। सुहृद् तो उन्हें कहते है-जिनका हृदय विशुद्ध हो, जिनका स्वभाव ही परोपकार करने का बन गया हो, जो परोपकार किये बिना रह ही नहीं सकते। जो बिना किसी परिचय के बिना किसी सम्बन्ध या पूर्व स्नेह के उपकार करे उन्हें सुहृद् कहते हैं। एक घर में आग लग रही है माता आग लगे घर से भागकर बाहर आ गयी है, उसका बच्चा भीतर रह गया है। उसका साहस नहीं होता, जलते घर में घुसकर बच्चे को ले आवे। वह रो रही है। चिल्ला रही है। इतने में ही कोई दयालु पुरुष आ गये, अपने जीवन को कुछ भी चिन्ता न करके जलते घर में घुस गये। लड़के को उठा लाये। यद्यपि उनका शरीर जल गया था, किन्तु बच्चे के जीवित बच आने पर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। उनका यह काम सौहार्द्रपूर्ण था।

कोई आदमी डूब रहा है, कोई सहृदय पुरुष तुरन्त कूद पड़ते हैं, बड़े कष्ट से बचा लाते हैं। सब उनकी सुहृदता की प्रशंसा करते हैं।

एक देश के राष्ट्रपति अपनी गाड़ी में बैठकर राजभवन जा

रहे थे, मार्ग में एक सूअर कीचड़ में पड़ा बिलबिला रहा था, राष्ट्रपति पर नहीं रहा गया, वे अपनी गाड़ी खड़ी करके कीचड़ में घुस गये और उस सूअर को निकाल लाये। फिर कीचड़ में सने हुए वस्त्रों से ही राज्यभवन में गये। लोगों ने जब उनकी बात सुनी, तो सब उनकी प्रशंसा करने लगे। उनके उपकारी स्वभाव का बखान करने लगे।

राष्ट्रपति ने कहा—"मैंने न तो कोई परोपकार ही किया है और न कोई प्रशंसा योग्य कार्य ही किया है। मैंने जो किया है अपने स्वार्थ के लिये अपनी शान्ति के निमित्त किया है। उस सूअर को कष्ट से बिलबिलाते देखकर मेरा हृदय भर आया था, चित्त चंचल तथा अशांत हो गया था, अपने चित्त को शान्त करने के निमित्त तथा हृदय की प्रसन्नता को प्राप्त करने के निमित्त मैंने ऐसा किया।"

सुहृद् पुरुष उपकार की भावना न रखकर अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से परोपकार किया करते हैं। परिचित अपरिचित, सम्बन्धी असम्बन्धी सभी का भला करते रहते हैं। उन पर उपकार किये बिना रहा ही नहीं जाता और उपकार करके उसका तनिक भी प्रत्युपकार नहीं चाहते। ऐसे सुहृद् पुरुष संसार में बहुत कम होते हैं।

दूसरे शुभचिन्त मित्र कहलाते हैं। मित्र उन्हें कहते हैं जो जिनसे अपना घनिष्ट प्रेम हो। एक मित्र अपने दूसरे मित्र का जो उपकार करता है वह स्नेहवश करता है। जिनसे उसका स्नेह नहीं होता, उनके प्रति उसकी परोपकार भावना जागृत नहीं होती। उनका उपकार दयावश न होकर पूर्व स्नेह सम्बन्ध के कारण होता है। जैसे भगवान् ने अपने बाल्यकाल के सहपाठी सुदामा का आदर किया और उसका दरिद्र दूर कर दिया।

तीसरे शुभचिंतक बन्धु बान्धव या सगे सम्बन्धी होते हैं, वे सम्बन्ध के कारण उपकार करते हैं। भाई यह हमारा, भाई हैं, गाँव का है, अपनी जाति का है, मातृकुल का सम्बन्धी है, पितृकुल का सम्बन्धी है, पत्नीकुल का सम्बन्धी है। इस उपकार में छिपी हुई प्रत्युपकार की भी भावना रहती है। आज हम इसका उपकार कर देंगे, तो समय पड़ने पर यह भी हमारा कार्य कर देगा। आड़े समय पर काम आवेगा। इस प्रकार शुभचिन्तकों की ये तीन श्रेणियाँ हैं।

मित्र की भाँति शत्रु भी तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वंश परम्परा के शत्रु। हमने उनका कोई अपकार नहीं किया है, किन्तु वंश परम्परा से हमारे कुटुम्ब की इनके कुटुम्ब के साथ बहुत दिनों से पुरानी शत्रुता चली आ रही है अतः ये भी हमसे शत्रुता मानते हैं।

दूसरी अपनी निजी शत्रुता होती है। हमने जान में अनजान में, अपने स्वार्थ के निमित्त कैसे भी किसी का अपकार कर दिया है, या हमसे हो गया है, अपकार चाहे उसी की त्रुटि के कारण हुआ हो, किन्तु वह अपनी त्रुटि का कुछ भी ध्यान न रखकर बदले की भावना से हमारा अपकार करने पर तुल जाता है, वह अपना निजी शत्रु है।

एक ऐसे शत्रु होते हैं, कि आपने उनका कुछ भी अपकार नहीं किया है, आप उन्हें जानते भी नहीं हैं, किन्तु वह ईर्ष्या द्वेष वश अकारण आपका अपकार ही करता रहता है। उसके मन में द्वेष की अग्नि इसीलिये भड़कती रहती है, कि यह मुझसे इतना श्रेष्ठ कैसे हो गया, इसके पास इतना धन कैसे आ गया, इसका भवन ऐसा सुन्दर कैसे बन गया, यह इतना सुंदर भोजन कैसे करता है, इसके पास इतनी भोग की सामग्रियाँ कैसे आ गयी।

ऐसे ईर्ष्यालु दूसरों की बढ़ती देख नहीं सकते। द्वेष करने से उनका अपना कोई प्रयोजन सिद्ध होता ही हो, यह भी बात नहीं। वे अकारण ही बिना अपने किसी स्वार्थ के ईर्ष्यावश द्वेष करते हैं। उनकी गणना भी शत्रुओं में ही है।

शत्रु मित्र के अतिरिक्त एक उदासीन भी होते हैं। किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं। वे किसी के दुख-सुख में, वादविवाद में लड़ाई झगड़े में फंसते ही नहीं। तट पर खड़े होकर सबका तमाशा देखते रहते हैं। किसी के काम में पक्ष में या विपक्ष में हस्तक्षेप नहीं करते। वे तटस्थ या उदासीन कहलाते हैं। जैसे बलराम जी न कौरवों की ओर हुए न पांडवों की ओर हुए। दोनों से तटस्थ रहकर युद्ध में न जाकर तीर्थ यात्रा के निमित्त चले गये।

एक उपकारी उदासीन होते हैं। जो पक्षपात शून्य होते हैं। उन्हें किसी पक्ष का कोई आग्रह नहीं। फिर भी दो पक्ष को लड़ता देखकर दोनों के मध्य में खड़े हो जाते हैं। वे दोनों का ही हित चाहते हैं। दोनों से पूछते हैं, बात बताओ क्यों लड रहे हो। लड़ाई का कारण बताओ। फिर हम बता देंगे दोनों में से किसका दोष है। वे पक्षपात नहीं करते। लड़ने वालों में चाहें अपना एक पक्ष वाला सम्बन्धी ही क्यों न हो, यदि उसका अपराध होगा, तो स्पष्ट कह देंगे इसी का अपराध है।

प्रह्लाद जी के पुत्र विरोचन का एक ऋषिकुमार से वाद-विवाद हो गया। विरोचन कहे—"मैं तुमसे बड़ा हूँ" और ऋषि-कुमार कहे—"मै तुमसे बड़ा हूँ।" विवाद यहाँ तक बढ़ गया कि दोनों ने अपने प्राणों का पण लगा दिया। दोनों में शर्त यह लगी, कि जिसका पक्ष ठीक होगा, वह दूसरे का सिर काट लेगा।

अब किसी ऐसे मध्यस्थ के पास निर्णय कराने चलना चाहिए

जो दोनों में से किसी का पक्षपात न करे। ऋषिकुमार ने कहा— "अच्छा, हम तुम्हारे पिता प्रह्लाद जी को ही मध्यस्थ मानते हैं। दोनों ने सहर्ष प्रह्लाद जी को मध्यस्थ मान लिया दोनों प्रह्लाद जी के समीप गये। दोनों की बात सुनकर मध्यस्त बने प्रह्लाद ने निर्णय दिया—"मैं यह निर्णय देता हूँ, कि विरोचन की अपेक्षा ऋषिकुमार श्रेष्ठ हैं। विरोचन के पिता की अपेक्षा ऋषिकुमार के पिता श्रेष्ठ हैं और विरोचन की माता की अपेक्षा ऋषिकुमार की माता श्रेष्ठा है।"

प्रह्लाद की निष्पक्षता के कारण ऋषिकुमार ने विरोचन को क्षमा कर दिया। उनका सिर धड़ से पृथक् नहीं किया। मध्यस्थ तो भगवान् का प्रतिनिधि होता है। पंच परमेश्वर कहाता है। वह किसी का पक्ष नहीं करता।

इसलिये पुरुष चार प्रकार के हुए। १ शुभचिन्तक, अशुभचिंतक, उदासीन और मध्यस्थ। शास्त्रों में चारों से चार प्रकार के बर्ताव करने की सम्मति दी है। योगशास्त्र वाले कहते है। चार प्रकार के लोग होते हैं। १–सुखी पुरुष, २–दुखी पुरुष, ३–पुण्यात्मा पुरुष, और चौथे पापात्मा पुरुष। साधक को चाहिये कि सुखी पुरुषों के प्रति तो हृदय में मैत्रीभाव रखे। जो अभावग्रस्त दुखी पुरुष है उनके प्रति करुणा के भाव रखे। जो पुण्यात्मा पुरुष हैं उनके प्रति मुदिता के भाव आह्लाद या प्रसन्नता के भाव रखे और जो पापात्मा पुरुष हैं उनकी उपेक्षा कर दे। ये नियम साधक के लिये हैं। किन्तु जो सिद्ध हो गया है, उसके लिये तो सभी में समभाव रखना चाहिये। मननशील मुनि लोग सबमें समभाव रखते हैं। गीताजी ने कहा है—जिनको प्रिय के पाने पर हर्ष नहीं होता, अप्रिय की प्राप्ति में विषाद नहीं होता उन

महात्माओं को मै नमस्कार करती हूँ। ऐसे महात्मा पुरुष धन्य हैं।"

साधारणतया मुनिगण योगी पुरुष सभी में समभाव रखते हैं। फिर भी "भवन्ति भव्येषु हि पक्षपातः" भव्य पुरुषों के प्रति कुछ न कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है। भाई बन्धु और सम्बन्धियों का स्नेहानुबन्ध कुछ ऐसा है, कि कितना भी छोडना चाहो कुछ न कुछ तो बना ही रहता है—"स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः" बन्धुओं का जो स्नेह-अनुबन्ध है, उसे छोडना मुनियों के लिये भी अत्यन्त कठिन है। किन्तु इस अत्यन्त दुस्त्यज स्नेहानुबन्ध को भी जो छोड देते हैं। वे युक्त योगियों से ही श्रेष्ठ हैं। वे समबुद्धि वाले महात्माओं से भी विशिष्ट हैं "समबुद्धिर्विशिष्यते।" साधारणतया मनुष्य दो ही प्रकार के होते हैं अच्छे या बुरे, साधु या असाधु, पापी या पुण्यात्मा। उच्चकोटि के योगिराजों की दृष्टि में दोनों ही समान हैं। वे साधु में और पापी में कोई भेद नहीं करते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! समबुद्धि वाले युक्त योगियों में भी जो विशिष्ट हैं-सर्वश्रेष्ठ हैं-उनके सम्बन्ध में बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! जो योगी सुहृद्, मित्र तथा बन्धु इन शुभचिन्तकों में और स्वार्थी, ईर्ष्यालु, द्वेषी तथा कपटी शत्रुओं में तथा उदासीन और मध्यस्थों में किसी भी प्रकार का भेदभाव मन में नहीं रखता। सभी में जिसका एक ही भाव है। फिर चाहे वह साधु पुरुष हो अथवा भले ही पापी क्यों न हों, सबको एक दृष्टि से देखता है, तो वह समबुद्धि वाले योगियों में भी सर्वश्रेष्ठ योगी है।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो आप बार-बार समबुद्धि योगी का उल्लेख कर रहे हैं। पीछे अत्यन्त संक्षेप में आपने प्राण और

अपान को समान करके नासिका के भीतर ही गतिशील करने का संकेत किया था और इच्छा, भय और क्रोध से विमुक्त योगी को सदा सर्वदा मुक्त बताया था, तो मैं उस योग के ही सम्बन्ध में विस्तार से सुनना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे प्राणायाम योग का विधान बतावें। योगी को कैसे रहना चाहिये, कैसे बर्तना चाहिये, कहाँ पर योग साधन करना चाहिये, कौन सा आहार करना चाहिये, किसे ग्रहण करना चाहिये, किसका परित्याग करना चाहिये। इन सब बातों को मुझे विस्तार पूर्वक बतावें।"

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! यह विषय बड़ा गूढ़ है। विस्तार के साथ तो मैं सैकड़ों वर्षों में भी बता नहीं सकता। तुम्हारी जिज्ञासा देखकर मैं अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें इस विषय को समझाऊँगा। पहिले तुम देश के सम्बन्ध में सुनो। योगी को एकान्त में निवास करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"एकान्त का क्या अर्थ है? जहाँ कोई जीव-जन्तु न हो? जहाँ कोई भी जीव न हो ऐसा स्थान तो स्यात् ही कहीं हो।"

भगवान् ने कहा—"अरे, जीव से अभिप्राय नहीं। पशु, पक्षी, कीट पतंग तो सर्वत्र है ही। किन्तु जहाँ कोई मन तथा वाणी से हमारे साधन में विघ्न डालने वाला न हो। दुर्जन पुरुष जहाँ आस-पास विघ्न न डाल सकें। ऐसे एकान्त स्थान में चाहे अकेली कुटिया हो, देवालय हो, पहाड़ की गुफा हो उसमें रहे। जिसमें कोई यह न कहे कि यह तो मेरा स्थान है, तुम यहाँ कैसे रह गये। यहाँ से भाग जाओ। ऐसे एकान्त स्थान में रहे।"

साधन काल में दूसरों से संपर्क न रखे। एकाकी ही निवास करे। अपने साधन में जो सहायक सेवक हों उन्हें भी अपने से पृथक् ही रखे। और किसी से किसी वस्तु की आशा न रखे।

अर्जुन ने पूछा—"महाराज ! आशा न रखेगा तो खायगा क्या ?"

भगवान् ने कहा—"खाने को तो भाग्यवश मिल ही जाता है। जो अनन्यभाव से चिन्तन करता है, उसके खाने-पीने की तो मैं स्वयं चिन्ता रखता हूँ। इस धन में मतवाले हुए मदमत्त संसारी जीवों की लल्लो-चप्पो न करे, उनसे कोई आशा न करे। चाहे जितना भी धन किसी के पास क्यों न हो, वह दूसरों की सभी इच्छाओं की पूर्ति कभी नहीं कर सकता। प्रायः सभी प्राणी अभावग्रस्त है, कोई न कोई अभाव सभी को बना रहता है। जो स्वय अभावग्रस्त हैं, दूसरों की अभिलाषा कैसे पूरी कर सकते हैं। अतः केवल मेरी आशा छोड़कर और किसी भी संसारी पुरुष से आशा न रखे। और सभी प्रकार के परिग्रहों का परित्याग कर दे।"

अर्जुन ने पूछा—महाराज, यदि परिग्रह न करेगा, तो योग साधन में तो घृत भी चाहिये, दूध भी चाहिये। वस्त्र, दंड, कमंडलु, ओढ़ना, बिछौना शरीर निर्वाह के लिये सभी तो आवश्यक होता है।

भगवान् ने कहा—"केवल कम से कम शरीर निर्वाह की वस्तु रखना परिग्रह नहीं। पेट भरने को अपने मित्र सम्बन्धी दे दें या घर-घर से भिक्षा करके ले आवे। निर्वाह मात्र को दूसरे समय को रख भी दे तो यह भी परिग्रह नहीं है। भिक्षा का अन्न तो अमृतान्न है, भिक्षान्न की गणना परिग्रह में नहीं है। केवल शरीर निर्वाह के लिये जो कर्म किया जाय, वह कर्म नहीं, केवल शरीर निर्वाह को अन्न वस्त्र रखें जायँ वह भी परिग्रह नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"आशा और परिग्रह से रहित होकर फिर क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"फिर शरीर और चित्त को वश में रखें।" शरीर में व्याधियाँ बहुत आ जाती हैं, चित्त में विक्षेप बहुत उठते हैं। व्याधि और विक्षेपों से यथाशक्ति बचते रहने की चेष्टा करे। तब सुंदर आसन लगाकर अन्तःकरण को समाधि में स्थित रखना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपने कहा सुंदर आसन लगाकर समाधि का अभ्यास करे, सो सुंदर आसन कैसे लगावे ? कहाँ लगावे ? आसन की भूमि कैसी हो ? किस पर बैठे आसन में कौन-कौन सी वस्तुएँ हों, कृपा करके इन सब बातों को मुझे समझाइये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने जैसे आसन आदि की विधि बताई है, उसे मै आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

योगी रहे इकान्त करै नहिं संग सबनिको।
दस इन्द्रिय मन एक करै संयम नित इनिको॥
वश में राखै देह और की रखै न आशा।
संग्रह कबहुँ न करै रखै प्रभु में विश्वासा॥
संसारिनि की आश तजि, मगन रहै निज आत्म में।
सदा लगावै नेम तैं, आत्मा कूँ परमात्म में॥

योगासन की विधि

[६]

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥*
(श्री भ० गी० ६ अ० ११, १२ श्लोक)

छप्पय

पावन भूमि निहारि करै साधन या थल में।
आसन लेइ लगाइ न्हाइ शुभ पावन जल में॥
कुश को आसन प्रथम गुदगुदो भूमि बिछावै।
ता ऊपर मृगचरम बिछावै सुख सरसावै॥
मृगछाला पट तें ढकै, ऊँचो नीचो होहि नहिँ।
सुख तें बैठे करै पुनि, साधन साधक द्वन्द सहिँ॥

---

*शुद्ध पवित्र देश में अपना स्थिर आसन लगावै, पहिले कुश, फिर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछा ले। आसन न तो बहुत ऊँचा हो, और न बहुत नीचा ही हो ॥११॥

उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों को वश में करके आत्म विशुद्धि के निमित्त योगाभ्यास करे ॥१२॥

आत्म शुद्धि के ही निमित्त से किये जाने वाले समस्त निष्काम कर्म निष्काम कर्म योग के अन्तर्गत हैं। ज्ञानयोग में तो विचार विवेक तितिक्षा, श्रवण मनन और निदिध्यासन को ही प्रधानता रहती है। जो कर्म लोकों की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं, वे कर्मयोग के अन्तर्गत हैं, किन्तु जो कर्म किसी भी इस संसारी भोगों की, तथा परलोक के भोगों की इच्छा के बिना केवल आत्मा शुद्धि के ही निमित्त किये जाते हैं, वे सब निष्काम कर्मयोग के अन्तर्गत हैं। जैसे आप निष्काम भाव से जिस भी वर्ण या आश्रम में हैं, उनके शास्त्रानुमोदित कर्मों को निष्काम भाव से करना। इष्ट कर्म आपूर्त कर्म, यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थव्रत, वापी, कूप, तड़ाग, परोपकार सम्बन्धी समस्त कार्य. भगवान् के मन्दिर बनवाना, कथा, कीर्तन का प्रचार प्रसार, भगवान् की सेवा पूजा परिचर्या के निमित्त समस्त कार्य, योग साधन के लिये विविध आसनों का अभ्यास, भाँति-भाँति के प्राणायामों का अभ्यास, साकार निराकार का ध्यान, किसी भी भाँति की धारणा निर्विकल्प सविकल्प कैसी भी समाधि, तथा अन्यान्य भी शरीर से मन से निष्काम भाव से किये हुए आत्म शुद्धि के निमित्त कार्य सभी निष्काम कर्मयोग कहलाते हैं। ये कर्म साधनावस्था में भी किये जाते हैं और सिद्ध हो जाने पर भी इन्हें छोड़ने की आवश्यकता नहीं, लोकसंग्रह के निमित्त सिद्ध हो जाने पर भी निष्काम कर्मयोगी इन कर्मों को करते ही रहते हैं।

भगवान् ने निष्काम भाव से विविध यज्ञों का वर्णन करके उन्हें अर्जुन को निष्काम भाव से करते रहने का उपदेश दिया। क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध करना भी एक यज्ञ ही है। योगी के लिये योगसाधन करना भी एक यज्ञ ही है। वह प्राणों का प्राणों में

हवन करता है। अर्जुन की जिज्ञासा पर भगवान् फिर से ध्यान-योग का वर्णन करने को उद्यत हुए।

ध्यानयोग में सबसे पहिले देश, काल और पात्रता के सम्बन्ध में विचार करना पड़ता है। सबसे पहिले कैसे स्थान पर ध्यान किया जाय, इसका विचार करना चाहिये। पवित्र या अपवित्र देश का प्रभाव साधन पर बहुत पड़ता है। जो सिद्ध हो गये हैं, या जन्मजात सिद्ध हैं, उनके लिये तो सभी देश समान ही हैं। वे देश, काल तथा पात्रता की परिधि को पार करके ऊँचे उठ गये हैं, किन्तु जो साधक हैं, उन्हें साधनावस्था में देशकाल का विचार अवश्य करना चाहिये।

शास्त्रकारों ने उन देशों को यज्ञसाधन योग्य माना है, जिन देशों में काले मृग स्वच्छंद होकर विचरण करते हों और जहाँ कुशा पैदा होती हों। कुश को सबसे पवित्र माना गया है। इसीलिये साधन में कुशों का बना हुआ आसन आवश्यक है। साधन काल में कुशों के बने मूँठा-ब्रह्मदण्ड-को बायें हाथ में रखने की तथा कुश की बनी पवित्रियों का दोनों हाथों की अनामिका उँगलियों में पहिनने की प्राचीन प्रथा है। देवकार्य तथा पितृकार्य कुशों के बिना सम्पन्न ही नहीं होते हैं। पहिले ऋषि मुनि ब्राह्मण लोग नित्य प्रति वनों में जाकर फल, पुष्प, समिधा तथा नित्य नई कुशा लाया करते थे। आज कुशल शब्द दक्ष, चतुर तथा योग्य पुरुष के अर्थ में व्यवहृत होता है, उसका भी यही तात्पर्य है—"कुशं लातीति कुशलः" अर्थात् जो कुश को लाकर उसे धारण करे वही कुशल है। अच्छे काम कुशा के बिना होते नहीं, जो अच्छे काम करेगा वही कुशों को लावेगा, वही कुशल पुरुष है। इसलिये कुश वाले देश साधन में उपयुक्त माने गये हैं। जैसे हिमालय, विन्ध्य आदि पर्वतीय देश, गंगा

यमुना आदि परम पवित्र नदियों के देश, जहाँ संत-महात्मा सिद्ध पुरुष रहते हों या पहिले रह चुके हों, ऐसे सिद्ध प्रदेश अथवा जिस पवित्र तीर्थों वाले प्रदेश साधन के लिये श्रेष्ठ माने गये हैं। उन पवित्र देशों में भी ऐसी भूमि पावन मानी गयी है, जो सुन्दर उर्वरा हो, जहाँ पवित्र वृक्ष हों, ऊसर या संस्कारहीन भूमि न हो। जहाँ जाते हो मन प्रसन्न हो जाय। ऐसी भूमि में—जहाँ संत महात्मा साधकों के पवित्र आश्रम हों, समीप में जलाशय हो, पवित्र नदियों का तट हो, देवालय हो, या पर्वतों की गुफा हो ऐसे स्थान में जीवनोपयोगी सभी सुपास देखकर साधन में प्रवृत्त होना चाहिये इसी का वर्णन करते हुए भगवान् ने अर्जुन को आसन लगाने की विधि बताई। जिससे बैठा जाय, या जिस पर बैठा जाय दोनों को ही आसन कहते हैं। जैसे पद्मासन, सिद्धासन, सरलासन आदि चौरासी लाख आसन है, इनको भी आसन कहते हैं और जिस गद्दी, चटाई, वस्त्र तथा चर्म आदि पर बैठकर साधन किया जाय उसे भी आसन कहते हैं। भगवान् ने संक्षेप में दोनों का ही कथन किया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने कैसे आसन पर बैठकर साधन करना चाहिये यह जिज्ञासा की तो भगवान् कहने लगे—"अर्जुन! बैठने पर कमर न झुके, रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, स्थिरता पूर्वक सीधे बैठे। बैठने में असुविधा न हो, सुखपूर्वक सीधे बैठने को आसन कहते हैं और जिस पर बैठते हैं, उसे भी आसन ही कहते हैं।"

अर्जुन ने पूछा—वह बैठने वाला आसन कैसा होना चाहिये। कहाँ लगाना चाहिये?

भगवान् ने कहा—पवित्र देश में आसन लगावे। जहाँ आसन लगाना हो वह भूमि ऊँची नीची न हो। सम हो। उसे

लीप पोत कर, या गङ्गा जल आदि छिड़क कर पहिले से ही शुचि पवित्र बना ले। आसन न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा ही हो गुदगुदा हो, जिस पर बैठने से सुख हो, जो अंगों में गड़ने न लगे। उसके बीच में अन्तराल न हो।

अर्जुन ने पूछा—अन्तराल क्या ?

भगवान् ने कहा—जैसे दुमञ्जला भवन है, तो दूसरी मञ्जिल पर आसन न लगावे। किसी तखत, चौकी के ऊपर आसन न लगावे, उसके नीचे आकाश आ गया। भूमि पर ही आसन लगावे। आसन में मृग चर्म, कुशासन और वस्त्र तीनों का ही उपयोग होना चाहिये ?

अर्जुन ने पूछा—"इनका क्रम कैसे होना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"लिपी पुती स्वच्छ भूमि पर सबसे पहिले कुशाओं का आसन बिछाना चाहिये। उसके ऊपर काले मृग का चर्म। ऋषियों ने मृग के चर्म को शुद्ध माना है, जैसे हड्डी के बने शंख को शुद्ध माना है। कस्तूरी मृग का चर्म हो तो और भी सुन्दर। सिंह भी मृगेन्द्र है अतः व्याघ्रचर्म भी बिछाते हैं, किन्तु यह राजस् है. कृष्ण मृगचर्म सात्विक है। खाली मृग चर्म पर बैठना दोष बताया है, अतः मृगचर्म के ऊपर मृदुल वस्त्र अवश्य बिछाले। जब भी बैठना हो मृगचर्म पर वस्त्र बिछाकर ही बैठना चाहिये। इस प्रकार कुशासन, मृगचर्म और वस्त्र इन तीनों को क्रमशः बिछाकर उस पर स्थिर आसन से बैठना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे आसन पर बैठकर क्या करना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—सबसे पहिले तो मन को एकाग्र करे। यह मन स्वभाव से चंचल है। अतः जहाँ तक हो इसे इधर-उधर

भटकने से रोकना चाहिये। फिर चित्त को और इन्द्रियों को संयत करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"चित्त को और इन्द्रियों को संयत कैसे करे ?"

भगवान् ने कहा—आँखों का स्वभाव होता है, तनिक भी पैछर सुनाई दी उसी ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखते रहना तनिक भी शब्द सुनाई दिया उसी को सुनकर उसके विषय में चिन्तन करना। कोई भी गन्ध आई तो उसी के विषय में मनन करना। उस प्रकार सब ओर से मन तथा इन्द्रियों के व्यापारों से अपने को हटाये रखना चाहिये। फिर चित्त को एकाग्र करके किसी सिद्धि की कामना के निमित्त नहीं, किसी दिव्य लोक की प्राप्ति की इच्छा के निमित्त नहीं। केवल आत्म शुद्धि के अभिप्राय से ही समाधिका अभ्यास करना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—आत्मबुद्धि क्या ?

भगवान् कहा—आत्मा तो नित्य, शुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्दमय है ही। विषयों के संसर्ग से अन्तःकरण में मलिनता सी आ गयी है। सूक्ष्म दृष्टि से इसी बात का चिन्तन करे कि मुझमें किसी प्रकार का विक्षेप नहीं है। मैं सभी कामनाओं से रहित, समस्त विक्षेपों से परे हूँ। इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप का विचार करे।

अर्जुन ने पूछा—ऐसा चिन्तन करते समय शरीर को किस प्रकार रखे ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

आसन सुखद लगाइ चित्त साधन में देवै।
मन कूँ करि एकाग्र इन्द्रियनि वश करि लेवै॥
पाँच करम अरु पाँच ज्ञान इन्द्रिय कहलावैं।
अहं बुद्धि मन चित्त भीतरी करन बतावैं॥
इन सब कूँ वश में करै, अन्तःकरन विशुद्धि हित।
करै योग अभ्यास नित, जाइ न कबहूँ भोग चित॥

ध्यान की विधि

[७]

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥*

(श्रीभ० गी० ६ अ० १३, १४ श्लो०)

छप्पय

काया सिर अरु गरो सीध में सम ई राखै ।
मन बानी वश करै व्यरथ की बात न भाखै ॥
आसन अचल लगाय चित्त इत उत न डुलावै ।
भीतर मनकूँ रोकि दृश्य परपंच भुलावै ॥
दीठि नासिका अग्र में, राखै विचलित होहि नहि ।
दशहु दिशनि देखै नहीं, चित इत उत नहिँ जाइ बहि ॥

---

* अभ्यास के समय शरीर शिर और ग्रीवा को स्थिर और अचल करके बैठे। अपनी नासिका के अग्रभाग की ओर देखता हुआ और किसी दिशा में भी दृष्टि को न जाने दे ॥१३॥

ऐसा प्रशान्तात्मा और मत्परायण पुरुष निर्भय होकर ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित हुआ बड़ी सावधानी के साथ मन को वश में करके मेरे परायण होकर बैठा रहे ॥१४॥

इस शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं, उन सबका सम्बन्ध मूलाधार चक्र से है। जब मूलाधार चक्र शुद्ध रहेगा तभी आगे के चक्रों में कुण्डलिनी शक्ति का—प्राण वायु का—प्रवेश अगले चक्रों में होगा। जो रुग्ण होता है, वह मूलाधार की विकृति के ही कारण होता है। वृद्धावस्था में जो कमर झुक जाती है, उसका कारण भी यही है कि मूलाधार की नाड़ियाँ मल के कारण मोटी हो जाती हैं। वहाँ की कसेरुकाओं की हड्डी उभर कर बड़ी हो जाती है। जिसमे कमर को सीधी-सम-नहीं रख सकते। रीढ की हड्डियों के बीच से जो सुषुम्ना नाड़ी जाती है, वह सिर से लेकर मूलाधार तक जाती है। मूलाधार चक्र में वह साढ़े तीन वलय लगाकर प्रसुप्त हुई पड़ी रहती है, उसमें प्राणों का संचार नहीं होता। वृद्धावस्था में बहुतों का सिर दुखने लगता है। किसी को नेत्रों से कम दीखने लगता है, कुछ लोग कानों से कम सुनने लगते हैं। अपानवायु-जो एक शरीर को त्यागकर दूसरे में चली जाती है-मूलाधार में ही रहती है। अतः सबसे पहिले मूलाधार की ही शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। मूलाधार का शोधन विविध योगिक आसनों से होता है। आसनों से नाड़ी शोधन में बहुत सहायता मिलती है। एक आसन से लगातार ६ घंटे बैठा रहे, और सिर, ग्रीवा तथा रीढ़की हड्डी तनी रहें, दोनों घुटने भूमि में सटे रहें और इसमें शरीर को तनिक भी कष्ट न हो। तो समझना चाहिये आसन सिद्धि हो गयी। इस पर स्थिर रहने पर सुखानुभूति होती है, तब ध्यान में मन लगता है। अतः साधन का मूल-आधार आसन ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने शरीर को कैसे रखना चाहिये इस बात की जिज्ञासा की तब भगवान् ने कहा—अर्जुन! शरीर के तीन भाग हैं। एक तो पैरों का भाग, जहाँ

आकर, कटिप्रदेश के समीप दोनों पैर निकलते हैं, उस कटि भाग से ग्रीवा तक दूसरा भाग और ग्रीवा से सिर तक तीसरा भाग। सिर सबसे श्रेष्ठ मुख्य भाग है, इसलिये उसे मुख्य भाग या शीर्षभाग कहते हैं। ग्रीवा से कटि तक के भाग को मध्यभाग कहते हैं, आगे के भाग को वक्षोदर और पीछे के भाग को पृष्ठ भाग या पीठ कहते हैं। कटि के नीचे के भाग को अधोभाग कहते है। उस अधोभाग के भी तीन विभाग है। एक तो दोनों चूतड़ों का भाग जहाँ से दोनों पैर निकलते हैं, वहाँ से लेकर घुटनों तक घुटनों से लेकर टखनों तक दूसरा भाग और टखनों से लेकर पंजों तक तीसरा भाग। तो पंजे टखने और घुटने तो पद्मासन, सिद्धासन अथवा स्वस्तिकासनादि आसन लगाने से संयत हो जाते हैं। अब रहा मध्यभाग और शीर्षभाग। इन दोनों को संयम में रखने के लिये पीठ, ग्रीवा और सिर को जब तक सम न रखा जायगा तब तक पूरे शरीर का संयम नहीं हो सकता। शरीर को संयत रखने के लिये आसन मार कर पीठ ग्रीवा और सिर को सम रखना यह समाधि की प्रथम सोपान है। अतः तीनों को सम रखकर सुस्थिर होकर बैठे।

अर्जुन ने पूछा—शरीर का संयम तो हो गया, किन्तु दृष्टि तो बड़ी चंचल होती है, तो क्या आँखों को भी मींच ले।

भगवान् ने कहा—आँखों के मीच लेने में एक दोष है, उससे निद्रा आ जाने की सभावना है, अतः न तो आँखों को पूरी तरह से मींचे ही और न पूरी तरह से खुली ही छोड़ दे। अर्धोन्मीलित दृष्टि रखकर नासिका के अग्रभाग पर ही अपनी दृष्टि जमा दे। और किसी दिशा की ओर न देखे। ऐसे दिशाओं की ओर अवलोकन न करता हुआ स्थिर होकर बैठे रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—बैठकर क्या करता रहे ?

भगवान् ने कहा—"बैठकर ध्यान करना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"ध्यानकर्ता कैसा हो, उसकी योग्यता बतावें।"

भगवान् ने कहा—ध्यान कर्ता को सर्वप्रथम तो प्रशान्तचित्त होना चाहिये। जिसका चित्त प्रशान्त है, वह ध्यान ही क्या करेगा। अतः चित्त में जो विक्षेपकारक विचार हैं, उन्हें मस्तिष्क से निकाल देना चाहिये। अनित्य संसारी विषय न आज तक किसी के हुए हैं न होंगे। चित्त में विक्षेप के तीन ही कारण है, कामवासना, धनका लोभ और अपने विरुद्ध आचरण करने वालों के प्रति क्रोध। सो तीनों बातों को अनित्य नाशवान् समझकर इनकी चिन्ताओं से चित्त को विमुक्त करके शान्तभाव से ध्यान के लिये बैठना चाहिये।"

दूसरा विक्षेप है, मृत्यु का भय साधक को ऐसा भय आठो पहर लगा रहता है, कि ऐसा कार्य करने से कहीं मेरी मृत्यु न हो जाय। सभी प्राणी सर्वदा मृत्यु के भय से भयभीत बने रहते हैं। साधक को निर्भय रहना चाहिये। उसे दृढ़ विश्वास रखना चाहिके कि जहाँ मृत्यु होने वाली होगी, वहाँ अवश्य ही हो जायगी, उसे कोई टाल नहीं सकता। जहाँ मृत्यु नहीं होने की है, वहाँ कोई लाख प्रयत्न करे, तो भी मृत्यु हो नहीं सकती। जब मृत्यु निश्चित समय पर नियत देश में अवश्यम्भावी है, तो हम फिर सदा भयभीत क्यों बने रहे। अतः साधक को भय को तिलांजलि देकर-निर्भय बनकर साधन में प्रवृत्त होना चाहिये।

तीसरी बात यह है, जब तक साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करता, तब तक उसे ब्रह्म साक्षात्कार हो नहीं सकता। जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ऋषिगण ब्रह्मचर्य व्रत का

आचरण करते हैं "यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यंचरन्तः" उस व्रत से च्युत न हो। वीर्य की रक्षा करने का ही नाम ब्रह्मचर्य है। वीर्य या विन्दुपात से ही मरण होता है। विन्दु धारण से ही जीवन प्राप्त होता है। जिन कारणों से वीर्य अधोगामी हो, उन कारणो का परित्याग कर देना चाहिये। कामनियों का दर्शन, स्पर्श, आलाप, हँसी-विनोद, एकान्तवार्ता, एकान्तसेवन आदि कामवर्धक चेष्टाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

चौथी बात यह है, कि शरीर की भाँति मन को भी संयम में रखना चाहिये। मन को इधर-उधर स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण नहीं कराते रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! मन तो बड़ा चंचल है। उसको तो जब तक कोई अवलम्बन न हो, तब तक वह इधर-उधर घूमता ही रहेगा। मन निरालम्ब तो ठहर नहीं सकता।"

भगवान् ने कहा—"मन के लिये सबसे बड़ा अवलम्बन तो मैं ही हूँ, मुझमें चित्त को लगाये रखना चाहिये। मेरी निराकार साकार अनेक मूर्तियाँ हैं, जो भी साधक को अनुकूल पड़े। उसमें चित्त को फँसाये रखना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—आपको क्या समझे?

भगवान् ने कहा—मुझे ही अपना परम पुरुषार्थ समझे। मुझे ही सर्वस्व मानकर ध्यान में प्रवर्त हो, मुझे ही अपना आराध्यदेव, प्राप्ति स्थान, अन्तिम साध्य तथा अन्तिम ध्येय माने। ऐसा होकर योग में युक्त होकर निश्चिन्त, निश्चल, जितेन्द्रिय, श्रद्धावान् होकर ध्यान में बैठे।

अर्जुन ने पूछा—इस प्रकार बैठे हुए साधक को क्या होता है, उसे कौन सी सिद्धि की प्राप्ति होती है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ब्रह्मचर्य व्रत माहिँ अवस्थित रहै सदाई।
कबहूँ भय नहिँ करै अभय व्रत रखै सदाई॥
अन्तःकरन प्रशान्त होहि चंचलता तजि कैं।
सावधान नित रहै चित्त तैं मोकूँ भजि कैं॥
मोमें चित्त लगाइ कें, मत्पर वह बनि जाइगो।
पावै साधक सुख सतत, सत् योगी कहलाइगो॥

योग द्वारा परम शान्ति की प्राप्ति

[८]

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १५ श्लोक)

छप्पय

मन कूँ वश जिनि कर्यो नियत मानस कहलावें ।
ऐसे योगी सदा चित्त मो माहिँ लगावें ॥
परमानन्द स्वरूप शान्ति कूँ ते नर पावें ।
मेरी है वह शान्ति सरल साधक जन पावें ॥
तैल-धारवत ध्यान करि, जो लौ सतत लगाइँगे ।
कहैं शाश्वती शान्ति जिहि, मम प्रसाद तें पाइँगे ॥

समस्त साधन शान्ति के ही लिये किये जाते हैं। मनुष्य जो भी कर्म करता है, इसीलिये करता है, कि इस कर्म से मुझे सुख मिले और दुख की निवृत्ति हो। कोई भी व्यक्ति दुख नहीं चाहता। सभी इसीलिये सब व्यापारों को करते हैं, जिससे मेरी चिन्ता दूर हो जाय। कामी समझता है, मेरी इष्ट वस्तु मुझे

---

* इस भाँति अपने आपको योगाभ्यास में लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरी स्थिति रूप परम निर्वाण शान्ति को प्राप्त होता है ॥१५॥

प्राप्त हो जाय, तो मैं सुखी हो जाऊँगा। असत्यवादी जो असत्य भाषण करता है, वह दुख की प्राप्ति की इच्छा से नहीं करता। उसे किसी भोग पदार्थ की इच्छा है, वह सोचता है, यदि मैं सत्य बात कह दूँ, तो लोग मुझ पर क्रुद्ध होंगे मुझे मेरी मनोभिलषित वस्तु प्राप्त न होगी, यदि मैं असत्य भाषण कर दूँ तो वह वस्तु मुझे मिल जायगी। उस वस्तु के प्राप्त होने पर मुझे सुख मिलेगा। यदि असत्य भाषण से सुख की शान्ति की उसे संभावना न होती, तो वह कभी असत्य भाषण न करता, क्योंकि इस बात को वह भी जानता है, कि असत्य भाषण करना अच्छा नहीं, किन्तु सुख प्राप्ति की लालसा से वह अनुचित साधन को भी अपनाता है।

कामी समझता है, यदि अधर्म करने पर भी मेरी मनचाही कामिनी मिल जाय, जिससे मुझे सुख मिलेगा, तो वह अधर्म का मार्ग भी ग्रहण करने को उद्यत हो जाता है। महाराज दण्डक कुलीन थे, शास्त्रज्ञ थे, फिर भी अपने गुरु शुक्राचार्य की अरजस्का पुत्री को एकान्त अरण्य में पुष्प चुनती देखकर उस पर मुग्ध हो गये। उस कन्या से उन्होंने अनुचित प्रस्ताव किया। कन्या ने कहा—"राजन्! तुम कैसी अधर्म की बात कर रहे हो, मेरे पिता तुम्हारे गुरु हैं। इस सम्बन्ध से मै तुम्हारी बहिन हूँ, बहिन से ऐसा प्रस्ताव करना अधर्म है।"

राजा तो काम में मदान्ध हो गये थे, उन्होंने कहा—"देवि! धर्म हो या अधर्म जब तक मैं तुम्हें प्राप्त न कर लूँगा, तब तक मुझे शान्ति नही मिलेगी।"

शुक्रतनया ने राजा को भय दिखाते हुए कहा—"राजन्! तुम्हें इस अधर्म कार्य का परिणाम भी सोच लेना चाहिये। मेरे पिता परम तपस्वी हैं, वे सर्व समर्थ है, तुम्हारे इस अधर्म कार्य

से वे तुम्हें ही भस्म नहीं कर देंगे, तुम्हारे राज्य पाट को, सेना वाहन, मंत्री सचिवों को तथा समस्त प्रजा को नष्ट कर देंगे।"

दण्डक ने कहा—"देवि ! मैं यह जानता हूँ, तुम्हारे पिता की शक्ति का मुझे पता है, फिर भी यदि एकबार मैं तुम्हारा आलिंगन कर लूँ, तो उस सुख के पीछे मै सब कुछ सहने को उद्यत हूँ।"

कन्या बहुत मना करती रही, किन्तु राजा ने अपने सुख के निमित्त उसके साथ बलात् कार्य किया। उसका परिणाम भी जो होना चाहिये था, वही हुआ। सात दिनों तक तप्त बालू की वर्षा हुई। राजा का धन, जन, सेना, कोष, तथा सम्पूर्ण प्रजा के प्राणी नष्ट हो गये। सम्पूर्ण राज्य दण्डकारण्य हो गया।

इससे यही सिद्ध हुआ कि सभी प्राणी सुख प्राप्ति के लिये और दुःख निवृत्ति के ही निमित्त कर्म करते हैं। किन्तु जैसे कर्म किये जाते हैं, वैसा ही उनका फल मिलता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं। शुभकर्म, अशुभकर्म और शुभाशुभ कर्म।

जो पापमय संसारी पुरुष हैं, वे अशुभ कर्मो में ही लगे रहते हैं, वे अहार, निद्रा और मैथुनादि के अतिरिक्त अन्य किसी सुख को जानते ही नहीं। इन्द्रियों के विषय भोगों में ही वे सुख समझते हैं। अतः जैसे भी प्राप्त हो सकें तैसे विषय सामग्रियों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बने रहते हैं। इसका परिणाम दुःख ही है, वे बार-बार जन्म लेते हैं मरते हैं। नरकादि लोकों में तथा यहाँ वे भाँति-भाँति के क्लेशों को सहते है।

दूसरे शुभाशुभ कर्म हैं, वे पुण्य पाप दोनों से मिश्रित रहते हैं। वे कर्म भी कामना मूलक ही होते है। उनमें शुभ हुए तो स्वर्गीय सुख मिल जाते है, अशुभ हुए तो नरकों में भी जाना पड़ता है। मिश्रित कर्म भी परमार्थ में साधक नहीं। तीसरे

धर्मात्मा लोगों के शास्त्र सम्मत शुभ कर्म होते हैं। यदि शुभ कर्म सकाम हुए तो वे स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति कराते हैं, यदि निष्काम भाव से किये गये, तो वे अन्तःकरण की शुद्धि में कारण होते हैं।

समस्त मोक्ष के साधनभूत शुभ कर्मों के करने का कारण एक मात्र अन्तःकरण की शुद्धि ही है। आत्म शुद्धि के निमित्त ही समस्त साधन किये जाते हैं। आत्म शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले कर्म सीधे मुक्ति देने वाले नहीं हैं, वे परम्परा से मुक्ति में कारण हैं। जब तक समाधि की प्राप्ति नहीं होती तब तक परम शान्ति नहीं होती। योग दर्शनकार ने समाधि के विषय में बड़े विस्तार से विवेचन किया है। समाधि के वैसे तो उन्होंने कई भेद बताये हैं, किन्तु साधारणतया संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दो भेद मुख्य हैं। उसे सबीज निर्बीज नाम से भी कहा गया है। संप्रज्ञात समाधि में कुछ प्रतिबन्धक भाव शेष रहते हैं। वे प्रतिबन्धक भाव भी जब नष्ट हो जाते हैं, उसी को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

समाधि प्राप्त करने के अनेक उपाय है। प्राचीन काल में ऐसी-ऐसी ओषधियाँ थीं, जिनको खा लेने मात्र से ही समाधि हो जाती थी, बहुत से साधक जन्म से ही बिना किसी साधन के समाधि मग्न हो जाते थे, जैसे पक्षिगण बिना किसी प्रकार का साधन किये जन्म से ही आकाश में उड़ने लगते हैं। कुछ परम्परागत मंत्र ऐसे हैं, कि जिनके जप से ही समाधि सिद्धि हो जाती हैं। बहुत से तपस्या द्वारा भी समाधि लाभ कर लेते हैं। किन्तु योग दर्शनकार ने इसे अन्तिम समाधि न मानकर इसकी संज्ञा 'भव प्रत्यय' बताई है। भव कहते हैं संसार को और प्रत्यय कहते हैं कारण को। अर्थात् ऐसी समाधि वालों को कालान्तर

में पुनः संसार की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि इन्होंने विचार द्वारा आत्मा अनात्मा का विवेक नहीं किया है। यह तो उन्हें भाग्यवश मार्ग में चलते हुए थोड़े से उपाय से प्राप्त हो गयी है। जो विचार विवेक, श्रवण, मनन निदिध्यासन के द्वारा त्याग वैराग्य और तितिक्षा आदि उपायों से समाधि प्राप्त हुई है उसका नाम "उपाय प्रत्यय" कहा गया है। वह श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और एकाग्रता के से समाहित चित्त की प्रज्ञा विवेक द्वारा अभ्यास और वैराग्य से प्राप्त होती है वही उपाय प्रत्यय अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि है। यही चरमस्थिति है। इसे प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करने को शेष रह नहीं जाता।

यद्यपि हमने इस प्राणायाम योग साधन रूप यज्ञ को निष्काम कर्मयोग के ही अन्तर्गत माना है, क्योंकि निष्काम कर्म रूप साधनों द्वारा ही समाधि की उपलब्धि होती है भागवत में भगवान् ने कहा है—"संसार में जन्त, ओषधि, तपस्या और मंत्रों द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सभी मेरी भक्ति रूपी योग से मिल जाती हैं। किन्तु योग की अन्तिम सीमा मेरे सारूप्य, सालोक्य आदि की प्राप्ति के बिना केवल मुझमें ही चित्त लगाये बिना अन्य किसी भी साधन से प्राप्त नहीं हो सकती।"

साधन तो बहुत हैं, किन्तु इन सब साधनों में श्रद्धा ही मुख्य साधन है। वैसे निष्कामभाव से यज्ञयाग किये जायें, सदाचारों का पालन किया जाय, शमदम, अहिंसा, दान, धर्म, स्वाध्याय वर्णाश्रम धर्म आदि का पालन किया जाय, ये सब के सब साधन अन्तःकरण की शुद्धि में कारण हैं, मोक्ष को देने वाले हैं, किन्तु इन कर्मों में यदि सकामता आ गयी तो फिर ये संसार को ही देने वाले हो जाते हैं, यदि दंभ से इनका आचरण किया जाय तब तो नरक ही देने वाले होते हैं। अतः इन सब साधनों को प्रभु की

प्रसन्नता के निमित्त ब्रह्मार्पण बुद्धि से-बिना किसी संसारी कामना के करना चाहिये ।

इन निष्कामभाव से इन कर्मों द्वारा भगवत् प्राप्ति-आत्म साक्षात्कार-संभव है। परन्तु आचार्यों ने इस योगमार्ग को सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया है। तपस्या आदि से प्राप्त सिद्धियों में विचलित होने की सम्भावना है, किन्तु यह योगमार्ग तो राजपथ है, इसके द्वारा परम शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने योगयुक्त पुरुष की अन्तिम स्थिति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तो भगवान कहने लगे—"अर्जुन ! ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित प्रशान्तात्मा साधक का जब मन मुझमें ही लग जाता है, तब उस संयतचित्त साधक योगी का चित्त योगयुक्त हो जाता है। अर्थात् वह असंप्रज्ञात समाधि के सुख का पूर्ण रूप से अनुभव करने लगता है। क्योंकि उसका चित्त योगयुक्त हो जाने से सदा सर्वदा मेरे स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। फिर उसका संसार बन्धन सदा के लिये छूट जाता है।

अर्जुन ने पूछा—"ऐसे योगयुक्त पुरुष का मन फिर कभी संसारी पदार्थों में नहीं जाता है क्या ?

भगवान् ने कहा—यह संसार तो माया अविद्या के कारण ही बन्धन का हेतु है। जिसकी अविद्या की निवृत्ति हो गयी, उसके लिये फिर संसारी पदार्थ बन्धन के हेतु नहीं होते। उसे फिर किसी प्रकार की चिन्ता अशान्ति तथा स्वरूप च्युति नहीं होती। अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उस योगी को परम शान्ति की प्राप्ति होती है। फिर वह सर्वत्र शान्ति का ही अनुभव करता है, वह शांति साम्राज्य का अधीश्वर बन जाता है। यही योग की पराकाष्ठा है, इसी का नाम परागति है।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन् ! आपने योग की परागति की

स्थिति का तो वर्णन कर दिया, अब हम यह जानना चाहते हैं, कि योग साधन में तत्पर साधक का आहार विहार कैसा होना चाहिये। उसे कौन सी वस्तु खानी चाहिये, कौन सी वस्तु न खानी चाहिये। कितना आहार करना चाहिये। कृपा करके उसके आहारादि के नियम और बता दें।

सूतजी कहते हैं--मुनियो! अब भगवान् अर्जुन की जिज्ञासा पर जैसे योग साधन करने वालों के आहारादि का वर्णन करेंगे, उसे मैं आप सबसे आगे कहूँगा, आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर सुनने की कृपा करेंगे।

छप्पय

यज्ञ आदि शुभ करम करो निष्काम भाव तैं।
शम दम मन अरु करन शुद्ध करि परम चाव तैं॥
जप, तप नित करि वरन आसरम वेद बताये।
दान अहिंसा विविध करो व्रत बिनु फल चाये॥
ब्रह्मार्पणयुत बुद्धि तैं, करम सबहि वर ज्येष्ठ अति।
किन्तु योग पथ समाधी, राजपन्थ है श्रेष्ठ अति॥

योगी के आहार विहार के नियम

[६]

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥❀
(श्री भग० गी० ६ अ० १६, १७ श्लोक)

छप्पय

कैसे होवै सिद्ध योग सो तोइ बताऊँ ।
संयम साधन योग करै ताको है जाऊँ ॥
जो खा जावै बहुत योग तातैं नहिं होवै ।
खाइ सर्वथा नहीं योग फिरि किहि विधि होवै ॥
करै शयन जो अति अधिक, योग साधना करै कस ।
जो निशि दिन जागतु रहै, साधक नहिँ वह नींद बस ॥

❀ हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले को सिद्ध होता है और न सर्वथा निराहार रहने वाले को । तथा न बहुत सोने वाले को और न सर्वथा जागते रहने वाले को ही ॥१६॥

समस्त दुःखों का नाश करने वाला यह योग उन्हीं को सिद्ध होता है, जिनका आहार विहार युक्त है, जिनकी चेष्टा संयमित और जिनका सोना जागना नियमित है ॥१७॥

कर्म मार्ग भक्तिमार्ग (निष्काम कर्म मार्ग) और ज्ञानमार्ग तीन मार्ग सनातन हैं। इनमें कर्म मार्ग अर्थात् वर्णाश्रम धर्ममार्ग केवल कर्मों पर ही आधारित है, ज्ञान हो जाने पर कर्मों को छोड़ना नहीं पड़ता वे स्वतः छूट जाते हैं। भक्ति मार्ग में भी कर्म किये जाते हैं, किन्तु वे किसी संसारी कामना के लिये नहीं। आसक्ति त्यागकर कृष्णार्पण बुद्धि से किये जाते हैं और सिद्धि प्राप्त होने पर भी भक्त या निष्काम कर्मयोगी लोक संग्रह की दृष्टि से भगवत् पूजन रूप कर्मों को करता ही रहता है। ज्ञानमार्ग में भी कर्म किये जाते हैं, किन्तु वे केवल अन्त:करण की शुद्धि के निमित्त किये जाते है। जहाँ अन्तःकरण शुद्ध हुआ वहाँ हठपूर्वक कर्मों का परित्याग करके ज्ञाननिष्ठ होकर निष्कामभाव से कर्म रहित होकर विचरते रहते हैं। कर्म तीनों ही मार्ग में करने होते हैं, अत: कर्म को छोड़कर दो ही निष्ठायें रहीं। ज्ञाननिष्ठा और भक्ति निष्ठा। ज्ञानी लोग भक्ति का खंडन नहीं करते, किन्तु वे उसे ज्ञान प्राप्ति का साधन मानते है। इसी प्रकार भक्तमार्गीय भी ज्ञान का खंडन नहीं करते। उनका कहना है, जो अज्ञानी है, वह साधन में प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है। अतः ज्ञान प्राप्त करके भक्ति करनी चाहिये। भक्ति मार्गीय ज्ञान को भक्ति का साधनमात्र मानते है। साध्य तो उनके लिये भक्ति ही है।

चाहें कर्म मार्गीय हो, चाहे भक्तिमार्गीय तथा ज्ञानमार्गीय तीनो प्रकार के साधकों को संयम तो करना ही होगा। असयमित व्यक्ति साधन में प्रवृत्त हो ही नही सकता। अपने नित्य नैमित्तिक व्यवहार को सुव्यवस्थित रखना एक नियम में बंधे रहना इसी का नाम संयम है। संयम जीवन में उन्हीं बातों का आवश्यक होता है, जिनके बिना जीवन चल ही न सके। वे बातें ये हैं।

(१) आहार (२) विहार (३) विविध इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न चेष्टायें (४) सोना और (५) जागना।

आहार तो उसे कहते हैं, जो बाहर से लाकर वस्तुओं को शरीर में डाला जाय। वह चाहें मुख के द्वारा डाला जाय या अन्य छिद्रों के द्वारा। आहार से शरीर की रक्षा होती है। प्राण वायु शरीर से निकल-निकलकर जीवन को क्षय करती रहती है। इसलिये जीवन की वृद्धि के लिये आहार आवश्यक है। आहार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग से मन पुष्ट होता है। इसलिये आहार का प्रभाव मन पर भी पड़ता है। कहावत है, "जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।"

आहार भी तीन प्रकार का होता है, सात्विक, राजस् और तामस, इनका विवरण स्वयं भगवान् सत्रवें अध्याय में बतावेंगे। विस्तार से वहीं इनका विवरण दिया जायगा। यहाँ संक्षेप में ही समझ लेना चाहिये कि सात्विक आहार वह है जो मृदु हो, मन को क्षोभ न करे। कड़वा तीखा न हो राजस् आहार वह है, जो रजोगुण को उत्पन्न करने वाला कड़वा तीखा चरपरा, बहुत मसालों वाला हो, तामस वह है, जो ठंडा, बासी, जूठा, दुर्गंधयुक्त हो। सात्विक आहार से ज्ञान की वृद्धि होती है, राजस् आहार से अधिकाधिक खाने की इच्छा तथा लोभ की वृद्धि होती है, तामस् आहार से निद्रा आलस्य और प्रमाद बढ़ता है।

यदि सात्विक आहार भी हुआ और तुम उसे आवश्यकता से अधिक खा गये, तो वह भी तमोगुण को ही उत्पन्न करेगा। अधिक आहार रोगों की वृद्धि करता है। अधिक आहार से मृत्यु होती है, बहुत कम आहार से शरीर का पोषण नहीं होता। उतना ही भोजन करे जो भली-भाँति पचकर रस रक्तादि के धातुओं के रूप में परिणित होकर सम्पूर्ण शरीर के अंगों को पुष्ट करे।

इसलिये पेट का जो अन्न जल का कोठा है, उसे पूरी तरह आप केवल गरिष्ठ अन्न से ही परिपूर्ण कर दोगे, तो पचते समय प्यास लगेगी। पानी कहाँ समायगा। प्यास में पानी अधिक पी गये तो पक्वाशय की थैली बढ़ेगी। पूरा जीर्ण नहीं हो सकेगा। कुछ आहार अजीर्ण रह जायगा, वह आँव बनकर शरीर में रोगों को उत्पन्न करेगा। अतः उदर में जितना आहार आ सकता हो उसका आधा ही अन्न से भरे। शेष आधे में से आधे को— चौथाई भाग, को जल से पूर्ण करे और चौथाई को वायु संचार के लिये खाली छोड़ दे। मुख से मल द्वार तक के द्वार को महाद्वार कहते हैं। इसमें १८ हाथ की तो आँते ही हैं। तुम इसमें अधिक अन्न लोभवश ठूँस लोगे तो वायु संचार को स्थान न रहेगा। अपान वायु कुपित होकर नाना व्याधियों की सृष्टि करेगी। अतः आहार सन्तुलित नियमित युक्त होना चाहिये।

बहुत कम भी आहार न हो। शरीर के लिये जितने आहार को आवश्यकता है, आपने उससे बहुत ही कम दिया, तो शेष भाग दूषित वायु से परिपूर्ण हो जायगा। इससे बात सम्बन्धी रोग पैदा हो जायँगे। शरीर का ठीक-ठीक पालन-पोषण न होगा। रस रक्तादि धातुएँ आवश्यकता से न्यून बनने लगेगी। शरीर क्षीण हो जायगा। वह साधनादि कार्य करने में असमर्थ हो जायगा। अतः योग साधक को जहाँ अधिक आहार निषेध है वहाँ उपवास भी निषेध है। समय पर नपा तुला भोजन करे। जिससे पेट हलका रहे पाचन शक्ति ठीक रहे। यह नहीं कि खूब तनकर खाले और खाकर कष्ट के साथ इधर-उधर करवट बदलता रहे। या कम खाने से मन आहार की ही ओर लगा रहे।

इसी प्रकार अपने विहार को चलने फिरने को भी संयत रहे। योगसाधक को विशेष मार्ग चलने का निषेध है। उसे एक स्थान

पर रह कर अधिक से अधिक एक आसन से बैठकर अभ्यास को बढ़ाना चाहिये। विवशता वश पैदल मार्ग चलना ही हो तो एक योजन चार कोश से अधिक न चले। अधिक शीत को सहन न करे। प्रातः स्नान का आग्रह न करे। अधिक ठंडे जल में स्नान न करे। अधिक गर्मी में--धूप में--न निकले। अर्थात् समशीतोष्ण में शरीर का संयमित रखे।

अपनी इन्द्रियों की चेष्टाओं को भी संयमित रखे। व्यर्थ में इधर-उधर न देखे। व्यर्थ की वाणी न बोले, व्यर्थ के शब्दों को न सुने। जिसका स्पर्श शास्त्रों में वर्जित है, उसका स्पर्श न करे। मलमूत्र के वेग को रोके नहीं। काम, क्रोध और लोभ के वेगों को रोके। इस प्रकार अपनी चेष्टाओं को अपने अधीन रखे। इन्द्रियों के अधीन न हो जाय।

अपने और सब कर्मों को भी नियमित करे। नियमित समय पर स्नान, भोजन, पूजा पाठ करे। नित्य नियम से ध्यान धारणादि साधनों को करे। समय पर शौचादि जाय। अपने जीवन को सन्तुलित रखे। व्यर्थ के कर्मों से सदा बचता रहे।

जीवन के लिये निद्रा लेना भी आवश्यक है। अतः नियमित समय पर सो जाय और नियमित समय पर उठ जाय। रात्रि के ३ भाग कर ले। जैसे १२ घन्टे की रात्रि है। तो पहिले भाग और अन्तिम भाग में तो जागकर साधन करे, मध्य भाग में निद्रा ले। जैसे सूर्यास्त ६ बजे होता है और मान लो ६ ही बजे सूर्योदय होता है। तो ६ से १० तक तो इधर जागता रहे। १० बजे सो जाय। फिर उधर २-३ बजे जाग जाय। इस प्रकार निद्रा और जागरण को भी संयमित रखे। योग साधक को ४ घन्टे की निद्रा बहुत है। सर्वसाधारण के लिये ६ घन्टे की।

इस तरह जिसके सभी काम सन्तुलित हैं। संयम पूर्वक किये

गये है, उसे साधन में सुलभता होती है। उसका योग साधन रूपी अभ्यास सुलभता पूर्वक हो सकता है। योग में असयम अनियमितता सबसे बड़ा विघ्न है। योगाचार्यों ने योग के साधक के लिये स्त्री, मार्ग चलना, अग्नि से तापना और उपवास ये चार बातें वर्जित बतायी हैं। यह योग साधन छुरे की धार पर चलने के समान है, कि जहाँ तनिक सी दृष्टि इधर-उधर हुई कि फिर मृत्यु ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् साधक के आहार विहार के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं—अर्जुन योग साधना करने वाले साधक को अपने आहार, विहार, चेष्टा, कर्म और सोने जागने को संयमित रखना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"संयमित कैसे रखे। जिससे योग साधन भली-भाँति हो सके?"

भगवान् ने कहा—देखो, भैया जो अधिक भोजन कर लेता हैं, उससे योग नहीं होता।

अर्जुन ने पूछा—"तोलकर कितना भोजन करे?"

भगवान् ने कहा—"सबकी पाचन शक्ति एक सी नहीं होती। किसी की जठराग्नि तीव्र होती है, किसी की मन्द होती है किसी की सम होती हैं। अपनी जितनी भूख हो, पेट में जितना दाल, भातरोटी साग समा सकता हो, उसका आधा खाय, शेष आधे में से आधे को पानी से भरे चौथाई भाग को वायु निकलने को छोड़ दे।"

अर्जुन ने पूछा—यदि सर्वथा खाय ही नहीं तो कैसा रहे। उपवास को सर्वश्रेष्ठ माना है।

भगवान् ने कहा—जो तपस्या मार्गावलम्बी हैं, उनके लिये ही अनशन सबसे बड़ा तप है, किन्तु इस योग मार्ग में अनशन

सर्वथा निषेध है। जो खायगा ही नहीं, तो योग साधन कैसे करेगा। इसलिये अजीर्ण हो तो लघ्वाहार करे नहीं तो योग साधक जान बूझकर कभी भी अनशन न करे।

अर्जुन ने पूछा—योग साधक सोवे कितना ?

भगवान् ने कहा—जो नियम खाने के सम्बन्ध में है, वही सोने के सम्बन्ध में भी समझो सवेरा हो जाय, ब्रह्म मुहूर्त से पहिले जागकर साधन में लग जाय। सूर्योदय से पूर्व ठन्डे जल में स्नान का आग्रह न करे। गरम जल से चाहे तो स्नान करले। और ऐसा भी न करे कि सर्वथा सोवे ही नहीं। नियमित नींद ले ले।

इस प्रकार जिसका आहार युक्त है, विहार युक्त है, चेष्टायें युक्त है, सोना युक्त है, जागना युक्त है तथा समस्त कर्म युक्त-सतुलित-नियमित-हैं, ऐसे योगसाधन करने वाले साधक का योग सिद्ध होता है, उसके समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाती है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! इस प्रकार संयम पूर्वक साधन करने से साधक को कौन सी संज्ञा होती है ?

भगवान् ने कहा—अर्जुन ऐसे नियत साधन करने वाला साधक जब अपने साधन को बढ़ाता जाता है, बढ़ाता जाता है, तो वही साधक आगे चल कर युक्त योगी कहलाता है।

अर्जुन ने पूछा—युक्त योगी की परिभाषा क्या है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर जैसे भगवान् ने युक्त योगी की परिभाषा बताई है, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

निद्रा और अहार संतुलित नित ही राखै।
बानी संयम रखै विषय--वार्ता नहिँ भाखै॥
करै युक्त आहार विहारहु संयत करि कें।
निद्रा वश में करै समय तैं जागै उठि कें॥
करम करै कौशल सहित, जथा जोग्य चेष्टा करै।
तासु योग दुखहर रहत, सो जोगी जग तैं तरै॥

युक्त योगी की परिभाषा

[१०]

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० १८, १९ श्लोक०)

छप्पय

कैसे समुझें योगयुक्त यह संयत साधक ?
जाके मग में क्लेश आदि अब हैं नहिं बाधक ॥
जब यह संयत चित्त आतमा में लगि जावे ।
सब भोगनि इसपृहा रहित साधक बनि जावे ॥
तब समुझो यह ह्वै गयो, योगयुक्त साधक सरल ।
विषय-वासना नाश तें, हृदय होहि अतिशय विमल ॥

---

* योगयुक्त पुरुष की यही वास्तविक अवस्था मानी जाती है, जिसमे योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो जाय और जिस दशा मे अपने आप से परमात्मा को देखता हुआ अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाय ॥१८॥

जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रखा दीपक चलायमान नही होता है, ठीक उसी प्रकार की उपमा जीते हुए चित्त वाले योगाभ्यास मे लगे योगी की कही गयी है ॥१९॥

एक ही वस्तु है, उसे राग से देखो, तो उसका और ही स्वरूप दीखता है, तथा वैराग्य से देखो उसके विरुद्ध दूसरा ही रूप दीखता है। बहुत-सी युवतियाँ जा रही हैं। कामी युवक रागवश उनका पीछा करता है। समीप जाने पर उसे पता चलता है, ये तो मेरी बहिनें हैं, तुरन्त उसका भाव बदल जाता है। एक गृहस्थी है, वह इधर-उधर से लाकर बड़े परिश्रम से धन एकत्रित करता है, उसे रागपूर्वक यत्न से रखता है। प्राणों की भाँति उसकी रक्षा करता है। कालान्तर में सद्गुरु की कृपा हो गयी, उसे पर वैराग्य हो गया, तो अब उसे वह धन मृत्तिका के समान प्रतीत होता है। धन वही है, किन्तु उसके प्रति भाव परिवर्तन हो गया।

राजा लोग राज्यलक्ष्मी का उपभोग पत्नी के समान करते हैं। उनको राज्यलक्ष्मी में अत्यन्त स्पृहा रहती है। राज्य श्री की रक्षा के लिये वे कितने लोगों का वध करा देते हैं, कितनों को फाँसी पर लटकवा देते हैं। उनकी हार्दिक इच्छा रहती है, राज्यलक्ष्मी सदा सर्वदा मेरे ही यहाँ बनी रहे, मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाय।

एक महाराजा थे, उन्हें किसी कारण वैराग्य हो गया। राज्यपाट सबको छोड़कर वे वन में चले गये, वहाँ नाना कष्ट उठाकर केवल भिक्षा के सूखे सत्तुओं पर ही निर्वाह करके काल-यापन करने लगे।

राज्यलक्ष्मी ने देखा, कल तक तो अत्यन्त स्पृहा से मेरा उपभोग करते थे, वे ही आज समस्त भोगों से रहित होकर परम कष्ट से समय बिता रहे हैं, तो राज्यलक्ष्मी वस्त्राभूषणों से भली-भाँति सुसज्जित होकर साकार रूप में महाराजा के समीप गयी। और अपने हाव-भाव कटाक्षों द्वारा राजा को अपनी ओर आक-

पित करने के लिये वे इन्हें रिझाने लगीं। तब राजा ने उन्हें पत्नी रूप में नहीं देखा, साक्षात् माता का स्वरूप मानकर कहने लगे—हे माता राज्यलक्ष्मी! अब हम वे स्पृहा वाले नहीं रहे, अब तो हम संसारी भोगों से निस्पृह बन गये हैं। निस्पृह व्यक्तियों के लिये आपका महत्त्व कुछ भी नहीं। इसलिये जो स्पृहावान भोगों में अनुरक्त व्यक्ति हो ऐसे किसी अन्य व्यक्ति को कृतार्थ करो। उसी को जाकर भजो।

राज्यलक्ष्मी ने कहा—"मेरी तो सभी स्पृहा करते हैं। अधिक नहीं तो उदर पोषण के ही निमित्त मुझे स्वीकार करो।"

तब महाराज ने कहा—"देवि! उदर पोषण को विरक्त पुरुष को क्या चिन्ता पेट तो वन के साग-पात से भी भर सकता है। सो हम तो हरे-हरे ढाक के कोमल पत्ते तोड़ लेते हैं। भिक्षा में जो भी कुछ रूखा-सूखा मिल जाता है, उन्हीं पत्तों पर रख कर खा जाते हैं उसी से हमारा निर्वाह हो जाता है। जब हमारे मन से इस लोक तथा स्वर्गादि परलोकों के समस्त भोगों से वैराग्य हो गया, तो वैराग्यवानों की दृष्टि में आपका कुछ भी महत्त्व नहीं है।"

यही दशा चित्त की है। जब तक चित्त में संसारी भोगों की स्पृहा भरी हुई है तब तक चित्त उसी प्रकार चचल बना रहता है, जिस प्रकार वायु में रखे दीपक की लोय चंचल रहती है। उसी दीपक को ले जाकर किसी निर्वात स्थान में रख दो, तो उसकी लोय शान्त, स्थिर, गम्भीर तथा अचंचल हो जायगी। विषय वासनाओं की कामना ही आँधी है। इस झंझावात के ही कारण चित्त में सर्वथा चंचलता बनी रहती है। यह भी मुझे मिल जाय, इसका भी मैं उपभोग करलूँ। यह भी मेरे पास आ जाय, किन्तु जहाँ विषयों की इच्छा समाप्त हुई। जहाँ दृष्ट तथा

श्रुत भोगों से वैराग्य हुआ, तहाँ चित्त की चंचलता एकदम नष्ट हो जाती है, वह प्रशान्त जल के समान ऊर्मि-लहर रहित बन जाता है। ऐसी स्थिति योग साधन द्वारा ही सम्भव है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! युक्तयोगी की परिभाषा बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन! हत्या की जड़ यह मन ही है। विषय रूपी वायु के बवंडरों के झोंके से यह केला के पत्ते की भाँति चंचल बना रहता है। जिस समय यह चित्त चारों ओर से हटकर आत्मा में ही स्थित हो जाय। समस्त चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जायँ तब समस्त संसारी विषय-फिर चाहें, वे इस लोक के हों या परलोक के-तुच्छ दिखायी देने लगते हैं। विषयों की स्पृहा ही चित्त को चंचल कर देती है। विषयों के भोग की इच्छा ही चित्त की वृत्तियों को बिखेर देती है। जहाँ चित्त विषयों की इच्छा से निवृत्त हुआ नहीं कि वही साधक समाहित हो जाता है, ऐसे ही साधनों द्वारा सिद्ध हुए पुरुष को योगयुक्त कहते हैं।

विषयों में प्रियता जब तक बनी रहती है, तब तक भोगेच्छा के कारण चित्त चंचल ही रहता है, जब विषयों से निस्पृह हो जाय, ये विषय विषवत् प्रतीत होने लगे तब समझना चाहिये इसे पर वैराग्य की प्राप्ति हो गयी। पर वैराग्य ही असम्प्रज्ञात समाधि में मुख्य कारण है।

अर्जुन ने पूछा—भगवन्! पर वैराग्य प्राप्त होने पर-विषयों से चित्त के निस्पृह हो जाने पर-चित्त की स्थिति कैसी हो जाती है?

भगवान् ने कहा—उस निरुद्धचित्त योगी के अन्तःकरण की स्थिति ठीक उस दीपक के समान हो जाती है, जिसको वायु के झोंके न लगते हों। कोई दीपक है, जब तक वह प्रबल वायु के

झोंकों के बीच में रखा है, तब तक उसकी लौ स्थिर न रहेगी। कभी इधर होगी, कभी उधर होगी। किन्तु जब उसे उठाकर निर्वात स्थान में ले जाओ। ऐसे स्थान में रख दो जहाँ विषय रूपी वायु के झोंके न लगें तो वह शान्त, गंभीर, सुस्थिर अचंचल, सौम्य तथा एकरस बन जायगा। इसी प्रकार योगवेत्ताओं ने निरुद्ध हुए चित्त वाले योगी के अन्तःकरण को भी बताया है। उसमें ऊर्मियाँ नहीं उठतीं। लहरें उठकर उसे क्षुब्ध नहीं करतीं।

यह रजोगुण और तमोगुण ही चित्त में चंचलता पैदा करते हैं। जब शुद्ध होते-होते शुद्ध सतोगुण बढ़ जायगा तो स्वस्वरूप को प्रकाशित कर देगा। इसलिये ज्ञान रूप दीपक के द्वारा ही आत्म स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तब योग के साधक को कैसा आनन्द होता है, उस समय उसकी स्थिति कैसी होती है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन के पूछने पर भगवान् के जैसे निरोध समाधि का विस्तार से वर्णन किया है, उसे मैं आपको आगे बताऊँगा।

छप्पय

विजित चित्त की उपमा कातैं देवैं ज्ञानी।
भयो चित्त एकाग्र समुझि लेवैं कस प्रानी॥
वायु रहित घर माहिँ रहै इस्थिर दीपक ज्यों।
विचलित होवै नहीं नेंक हू लौ ताकी त्यों॥
परमात्मा के ध्यान में, लगे रहें जोगी सतत।
देवैं उपमा तासु तस, जोग माहिँ जो नित निरत॥

योगी आत्मतुष्ट हो जाता है

[११]

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥*

(श्री भग० गी० ६ अ० २०, २१ श्लोक)

छप्पय

ध्यान योग तैं जिननि पूर्णता प्राप्त करी है ।
करचो आत्मसाक्षात्-कार तिनि दशा कही है ॥
करत करत नित जोग चित्त उपराम होहि जब ।
आत्मा द्वारा होहि आत्मसाक्षात लखै तब ॥
विषयनि की वांछा नहीं, रहै आत्म-सन्तुष्ट नित ।
ऐसी इस्थिति जासु तैं, जोग कहै तिहि वेदवित ॥

---

* जिस अवस्था में योगाभ्यास से वश मे किया हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो जाता है, उस दशा मे अपने आप ही परमात्मा को देखता है तथा अपने आप में ही सन्तुष्ट होता है ।।२०।।

जो केवल बुद्धि से ग्राह्य है तथा अतीन्द्रिय है ऐसा जो आत्यन्तिक सुख है, उसको योगी जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित यह यथार्थ तत्त्व से चलायमान नहीं होता है ।।२१।।

आत्यन्तिक सुख उसे कहते हैं, जिसमें किसी भी प्रकार की चिन्ता न रहे। निश्चिन्त, निर्द्वंद्व, निर्विकार, निश्चल, निरभिमान, निर्भ्रान्त तथा अन्तःकरण निर्लेप हो जाय। जब चित्त में भाँति-भाँति की चिन्तायें व्याप्त हो जाती हैं, तब उनसे तिलमिला कर पुरुष अपने को निस्सहाय दुखी समझने लगता है। दुख का कारण मिथुन या द्वन्द्व ही है। सभी सापेक्ष है। सुख कहो तो दुख वहाँ अपने आप उपस्थित हो जाता है। हानि कहो, तो लाभ बिना कहे आ जाता है। इसी प्रकार संपूर्ण संसार द्वन्द्व पर ही टिका हुआ है। हम द्वन्द्वों में से एक को चाहते हैं, दूसरे को छोड़ देना चाहते हैं यह संभव नहीं। बरफ लोगे तो उसकी साथ शीतलता आ ही जायगी। सुख चाहते हो, तो दुख बिना बुलाये आ जायगा। अभ्यास से आपका अन्तःकरण सुख-दुख दोनों द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाय, यही समाधि सुख है।

अन्तःकरण में विषयों के संयोग से विकार हो ही जाता है, क्योंकि जन्मांतरीय विषय संस्कार व्याप्त हैं, जैसे चन्द्रमा के सम्मुख आते ही चन्द्रकान्ता मणि अपने आप चूने लगती है, उसी प्रकार विषयासक्त मन के सम्मुख विषय समुपस्थित होते ही अन्तःकरण विकृत बन जाता है, अभ्यास से अन्तःकरण ऐसा बन जाय, कि विकार के हेतु भूत विषयों के आने पर भी मन में किसी प्रकार की विकृति न हो, तो समझना चाहिये हमारा योगाभ्यास परिपक्वावस्था में पहुँच चुका है।

चित्त का स्वभाव ही चंचल है, वह तनिक-सी विषय वायु के लगने से ही हिलने लगता है, जब अभ्यास से यह ऐसा दृढ़ हो जाय कि कितनी भी तीक्ष्ण वायु क्यों न चले मन चलायमान न हो, तो समझना हमारा साधन सफलता की सीमा तक पहुँच गया है।

अभिमान ही साधन में सबसे बड़ा विघ्न है। अभिमान के अनेक भेद हैं, और वह नाना वेश बनाकर ऐसी चातुरी से गुप्त रूप से आता है कि अच्छे-अच्छे साधक भी तब तक यह जान नहीं सकते कि अभिमान ने हमारे हृदय पर अधिकार जमा लिया है, जब तक उसका परिणाम प्रकट न हो जाय। कोई अच्छे से अच्छा काम किया और तुम्हारे मन में यह आ गया कि "मेरे अतिरिक्त इसे और कर ही कौन सकता था।" समझो सब किया कराया चौपट हो गया। किसी ने तुम्हारे काम में—साधन-भजन में—विघ्न डाला, विघ्न डालने वाला तुमसे सब प्रकार निर्बल है, तो तुम्हारे मन में जहाँ यह आया कि यह धूर्त एक झापड़ का भी नहीं। मैं चाहूँ तो इसे इसका प्रतिफल चखा सकता हूँ। तो तुम्हारा साधन रूपी गुड़, गोबर बन गया।

साधन करते-करते सिद्धियों का आ जाना स्वाभाविक है, सिद्धियाँ साधन में विघ्न है, साधक की परीक्षा लेने आती हैं, यदि तुम उनके चक्कर में फँस गये, तो समझो तुम योगमार्ग से च्युत हो गये।

भाँति-भाँति की भ्रान्तियाँ अन्तःकरण को क्षुभित बनाती रहती है, उन भ्रान्तियों को धक्का मारकर तुम निभ्रान्त बन गये, तो समझ लो, समाधि सुख का अधिकार आपको प्राप्त हो गया।

इन सब प्रत्यवायों को पार करके इन पर विजय प्राप्त करके आप चिन्ता रहित होकर आत्म सुख का अनुभव करने लगे, तो समझ लो आपने बाजी मार ली।

आप कह सकते है। गाढ़ सुषुप्ति अवस्था में भी कोई चिन्ता नहीं रहती। पेड़ आदि से ऊँचे से गिरने से—मूर्छा आ जाने पर भी चिन्ता से मुक्त हो जाते है या कोई अधिक मात्रा में मादक पदार्थ का सेवन करने पर भी सब चिन्तायें दूर चली जाती हैं।

क्या इसे ब्रह्म सुख नहीं कह सकते। सुषुप्ति अवस्था में तो बड़ा आनन्द आता है, जागकर कहते हैं, आज बड़ी अच्छी नींद आयी। बड़ा आनन्द आया। क्या ब्रह्म-सुख ऐसा ही होता है?

अब ब्रह्म सुख कैसा होता है, इसे तो वही जान सकता है, जिसने उस सुख का अनुभव किया हो, और जिसने ब्रह्म-सुख का अनुभव कर लिया है, वह सफेद कागदों को काले क्यों बनावेगा, किन्तु निद्रा सुख में तथा समाधि सुख में एक बहुत बड़ा अन्तर है।

सुषुप्ति अवस्था में भी सुख तो होता ही है, चिन्ताओं के हट जाने से सुख तो होगा ही किन्तु सुख को अनुभव करने वाली बुद्धि सुषुप्ति अवस्था में लय को प्राप्त हो जाती है। एक नाड़ी होती है उसमें लीन हो जाती है, अतः सोते समय उस सुख की अनुभूति नहीं होती, वह सुख बुद्धि ग्राह्य नहीं है। जब जागते है, बुद्धि उस नाड़ी से निकल आती है, तब वह अनुभव करता है, कि मैं सुखपूर्वक सोया। किन्तु अन्तःकरण का निरोध करने पर जो समाधि होती है, उस निरोध से बुद्धि का लय नहीं होता। वह समाधि सुख बुद्धि ग्राह्य है। इसलिये सुषुप्ति काल में भी सुख होता है, किन्तु वह आत्यन्तिक सुख नहीं है। अल्प सुख है, क्षणिक सुख है। ब्रह्मसुख या आत्यन्तिक सुख तो समाधि के ही द्वारा सम्भव है। उसे प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं। जिनका चित्त समाधि के द्वारा निर्मल-स्वच्छ बन गया है, ऐसी अवस्था में जो आत्मा में सुख होता है। चित्त के आत्मा में संलग्न होने पर जो आनन्दानुभूति होती है, उसका वर्णन वाणी से किया ही नहीं जा सकता, वह तो अनुभव की वस्तु है। किसी गूँगे को बढ़िया घी बूरे का लड्डू खिला दो और उससे पूछो—"कैसा स्वाद है, तो वह क्या बतावेगा।"

गूँगे की बात छोड़ दो गौ का तुरन्त का निकला पीला-पीला घृत किसी बोलने वाले को ही खिलाकर पूछो—"घृत में कैसा स्वाद है ?" तो वह वाणी द्वारा घृत के स्वाद को कैसे बता सकता है। अन्तःकरण की समस्त वृत्तियाँ लय न करके उनको निरोध करके समाधि स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, उस अन्तःकरण की निरुद्धावस्था का वर्णन करते हुए भगवान् उसका स्वरूप बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अर्जुन के पूछने पर निरोध समाधि का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन ! योग शास्त्रों में बताये हुए उपायों से जिस साधक ने *अपने चित्त को रोक लिया है और जहाँ जाकर यह चित्त उपरत* हो जाता है, तो योगी अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाता है, वह आत्म तृप्त बन जाता है।"

अर्जुन ने पूछा—वह योगी वहाँ क्या देखता है ? क्या अनुभव करता है ?

भगवान ने कहा—अर्जुन यह सब वाणी का विषय नहीं। वह स्वयं (अपने आप ही) आत्म दर्शन करके आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है। आत्म दर्शन होने पर फिर उसे और कुछ भी देखने को अवशिष्ट नहीं रह जाता।

अर्जुन ने पूछा—"उस आत्म सुख में ऐसी क्या विशेषता है, कि योगी को फिर कुछ और देखने की इच्छा ही नहीं होती। उसी आत्म साक्षात्कार से उसे परम सन्तोष हो जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, वह सुख अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों द्वारा उसका अनुभव भी नहीं हो सकता और न वाक् इन्द्रिय उसका वर्णन करने में ही समर्थ है। वह सुख निरतिशय है। केवल परम सात्त्विकी-सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि ही उसका अनुभव कर सकती है,

वह बुद्धि ग्राह्य ही है। योगी लोग जिस अवस्था में उनका अनुभव करते हैं, वह अडिग अवस्था है। उस अवस्था में स्थित होने पर फिर वह अपने स्वरूप से विचलित नहीं हो सकता। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर फिर उसका पतन सम्भव नहीं। फिर उसे यह संसारी भोग बाधा नहीं दे सकते। फिर वह स्वरूपच्युत नहीं हो सकता।

अर्जुन ने पूछा—इस अवस्था का क्या नाम है ?

भगवान् ने कहा—उस अवस्था का नाम ही "योग" है।

अर्जुन ने कहा—"उस योग सिद्धावस्था का कुछ और वर्णन कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने अर्जुन के पूछने पर जो सिद्ध-योगावस्था का वर्णन किया है, उसे मैं आगे आपसे कहूँगा।

छप्पय

जातैं होवै प्राप्त अतीन्द्रिय आनन्द अनुपम।
केवल भई विशुद्ध बुद्धि ही पाइ सूक्ष्मतम॥
जाकूँ करिकें प्राप्त करै अनुभव जिहि सुख कूँ।
जग के जितने द्वन्द भुलावै सबई दुख कूँ॥
करै प्राप्त जोगी दशा, होहि नहीं विचलित सतत।
ऐसी इस्थिति जासु तैं, जोग कहैं तिहि वेदवित॥

॥ श्रीहरिः ॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) से प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक हिन्दु के लिये
नित्य अवश्य पालनीय चार नियम

१. *शिखाधारण*—प्रत्येक हिन्दु को सिर पर शिखा अवश्य रखनी चाहिये।

२. *प्रातःस्मरण* —प्रातःकाल उठकर अपनी निष्ठा के अनुसार भगवान् के किन्ही नामो का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

३. देवदर्शन —नित्य नियम से आस-पास के किसी देवालय या मन्दिर में दिन में एक बार—किसी भी समय देवता को प्रणाम अवश्य करना चाहिये।

४. धर्मग्रन्थ पाठ—किसी भी धार्मिक ग्रंथ का एक श्लोक अथवा एक छंद ही नित्य नियम से पाठ अवश्य करें अथवा सुने ही।

इससे अधिक जितना भी धार्मिक कृत्य करें, उतना ही उत्तम है।

"अधिकस्याधिकं फलम्"

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खंड की न्योछावर १ रु० ६५ पैसे।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित हैं। पढते-पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढने लगेंगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओं तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है। अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खड में १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग २५० पृष्ठों का एक खड होता है। प्रत्येक खड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खडों मे तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खंड से गीतावार्ता नाम मे श्रीमद्भागवत्-गीता का विवेचन हो रहा है। २०) भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खंड आपको घर बैठे रजिस्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खंडो में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खडों में से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानों नेताओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बडा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है। हम यहाँ ७० वें खड पर केवल एक सम्मति राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक श्री गुरुजी की ही देते हैं—

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा

पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने, संकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्घाटन मैंने ही करना चाहिए, ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरंग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझ पर श्री भगवान् ने दया कर, मुझे अपने पास खींचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल, खेल कर मुझपर अपना वरदहस्त मानों रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि में यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्चरणों में रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्री कृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण, शोक विह्वल गोप गोपियों और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का, उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को भी पिघला सकने वाला कारुण्य रस का उत्कट

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों में लिखा है। सैकड़ों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मू० ६ रु० ५० पैसे, पाँच संस्करणों में अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत है।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पांडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी में सुन्दर टीका है प्रथम खंड छप चुका है। जिसमें १२२५ पृष्ठ हैं, मूल्य ८ रुपया। द्वितीय खंड शीघ्र ही छपने वाला है।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्री बद्रीनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातों का तथा समस्त उत्तराखंड के तीर्थों का इसमें वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा अहिन्दी प्रान्तों के लिये स्वीकृत है।

५. महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदों की रोचक भाषा में व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे हैं। यह इसका छठा संस्करण है।

७. नाम संकीर्तन महिमा—नाम संकीर्तन के ऊपर जितनी भी शंकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ सं० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खंडों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में इसमें दिये गये हैं। इसे पढ़कर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनों के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक सन्तप्तों को संजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४ मूल्य ३१ पैसे। पंचम संस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुखद

संस्मरण। १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग से प्रमाणों सहित विवेचन बड़ो ही मार्मिक भाषा मे किया गया है, वर्तमान समय में जब विधर्मी अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी सी पुस्तिका, मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दों मे)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ६ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तों को नित्य पाठ के लिये बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ सं० १६० मूल्य ४० पैसे।

१६. प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमें श्लोको सहित बताई है। श्लोकों का भाव दोहाओं मे भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनों स्तोत्र है। मूल स्तोत्र भी दिये हैं। मूल्य २० पैसे।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों मे श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ स० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओं की कितनी जाति हैं, गौओं को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएँ दी जायें, इन सब बातों का इसमें विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नैपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। यात्रा का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। नैपाल राज्य तथा नैपाल के समस्त तीर्थों का इसमे विशद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२३. आलवन्दार स्तोत्र मूल तथा छप्पय छन्दों में अनूदित—

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। ५ बार में १६५०० छपी है। अमूल्य।

२४. रास पंचाध्यायी—भागवत चरित से रास पंचाध्यायी पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उन्ही छन्दों में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री ब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है। पृष्ठ संख्या १२२, अमूल्य।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठ की पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर मूल और अर्थ सहित छापे हैं। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंगा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसे।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय है। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसे।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मँगाकर पढ़ें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृंगार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद। पुस्तक बहुत ओजस्वी कवित्वपूर्ण है। (प्रेस में)।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूरा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है। अभी छपी है। पृष्ठ ७५ मूल्य ७५ पैसे।

३४. छप्पय विष्णु सहस्र नाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र दोहे। शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)